योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

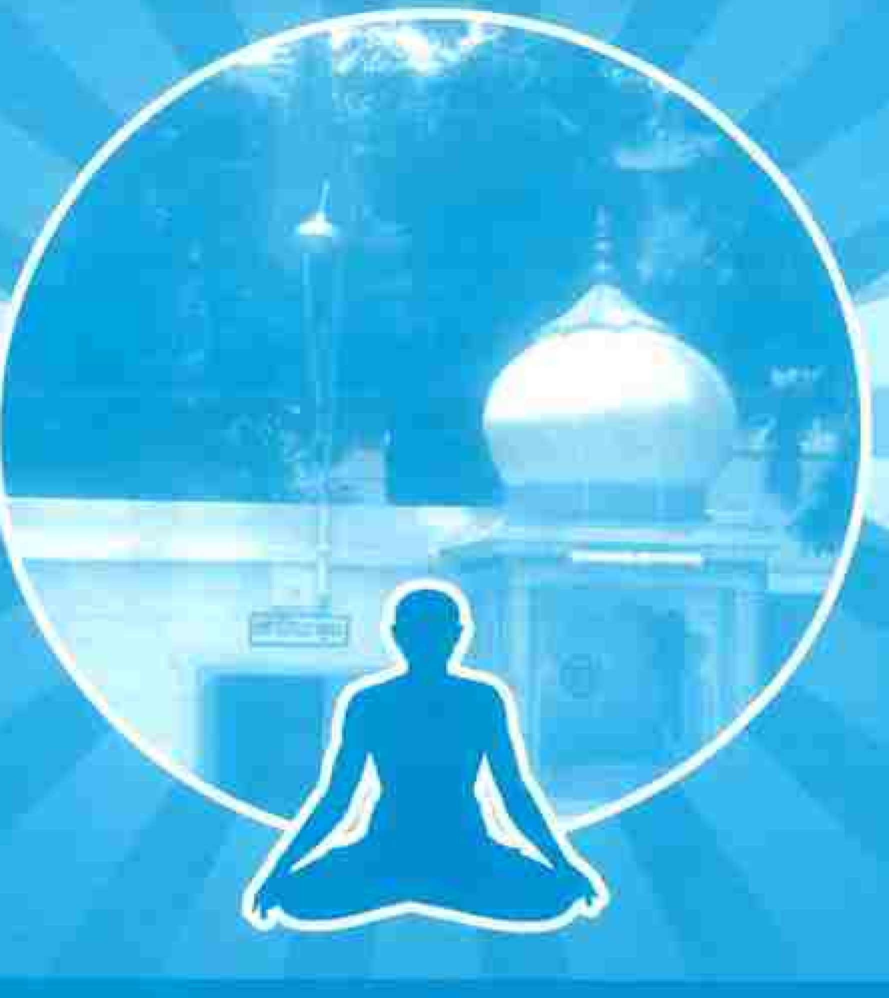

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 53 ; अंक : 06
सितम्बर 2021

प्रकाशन तिथि : 01.09.2021

अमृतकण

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयो।

तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्यते नो त्रसेत्।।

सुख-दुख का कर्ता व्यक्ति स्वयं होता है, ऐसा समझकर कल्याणकारी मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। फिर भयभीत होने की कोई बात नहीं।

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुञ्चति किं यमः।

अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख ! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो ? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है ? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो, जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

अर्थात् न तो आत्मा की कभी उत्पत्ति होती है और न कहीं यह अवरुद्ध किया जा सकता है, न आत्मा कभी बन्धन में पड़ता है और न ही इसे कभी साधना करने की आवश्यकता पड़ती है। न कभी इसे मोक्ष के लिए प्रयत्न करना पड़ता है और न कभी यह मुक्त ही होता है, क्योंकि यह पहले से ही मुक्त है। वास्तव में यही परमार्थिक स्थिति है।

पुत्रमित्रकलत्रादि सुखं जन्मनि जन्मनि।

मर्त्यत्वं पुरुषत्वं च विवेकश्च न लभ्यते।।

पुत्र-मित्र-कलत्र आदि का सुख जन्म-जन्म में प्राप्त हो सकता है, परन्तु मनुषत्व, पुरुषत्व और विवेक की प्राप्ति नहीं होती।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :– शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते–करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 54 सितम्बर 2021 अंक : 06

धीरो हर्ष शोकौ जहाति

तं दुर्दर्शं गूढ़ मनु प्रविष्टं,
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति।।

अर्थात् – जो योग माया के पर्दे में छिपा हुआ सर्वव्यापी, सब के हृदय रूप गुहा में स्थित संसार रूप गहन वन में रहने वाला सनातन है। ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्मा देव को शुद्ध बुद्धि युक्त धीर साधक अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा समझकर हर्ष और शोक को त्याग देता है।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	श्रीमद्‍भागवत् में योग-परिचर्चा- डॉ. विजय सिंह	13
4.	लीलाधारी की लीलाएँ.... 'प्रथम'- जगदीश राए बंसल	16
5.	गुरु-भक्ति का अनूठा ग्रंथ-गुरुगीता- अन्तू राम यादव	20
6.	संस्कार शक्ति व साधना शक्ति- रुक्मिणी वर्मा	26
7.	आध्यात्मिक गुरु- स्वामी विवेकानन्द	34

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 380.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख–

निष्काम कर्मयोग

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

मनुष्य के जीवन में कर्म–बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि–**अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।**

अर्थात् मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्म फल भोगते हुए जिन–जिन प्राणियों का मेल–मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये–नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल–भोगने के लिए यहाँ बार–बार जन्म लेना पड़ता है। तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म–मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनका प्रीति–प्यार, राग–द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार–बार जन्म लेता और बार–बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान का उपदेश है–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समा: एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे:।

अर्थात्–मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्म–जाल से ऊपर उठ जायेगा और कर्म फल–भोगने के लिये उससे लिपायमान (संलग्न) नहीं होगा। अकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म–बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार–बार आज्ञा प्रदान की है। वे आदर्श देते हैं–

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वै: पूर्वतरं कृतम्

अर्थात्–हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि–मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस

पर ध्यान रख कि–

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येद कर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म कृत्।।

अर्थात्–कर्म क्या है? और अकर्म क्या है इस बात का निष्कर्ष निकालने के लिए बड़े–बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित हो गये हैं। इसलिये हे अर्जुन मैं तुझे वह कर्म तत्त्व बतलाता हूँ जिसको ज्ञान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जावेगा। तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले। क्योंकि कर्म की गति बहुत ही गहन है। सहज ही जानी नहीं जा सकती। वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे। जो व्यक्ति इस कर्म सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं। सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है। कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है। यह समझ ही तुझे जन्म–मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी।

अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है। दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात्–मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निरहंकार और निर्मम रहता है वह शाश्वत् शान्ति को पा जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शंका पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिये शंकास्पद होकर के उसने बिल्कुल स्पष्ट यह कह डाला–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्थात्–हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हो। इस प्रकार से आप मिले–जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित सी कर रहे हैं। इसलिये निश्चय करके यथार्थत: सिद्धान्त की बात कहो। जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ। अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान ने अपना मनोभाव समझाने के लिए उसे उत्तर दिया–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।

अर्थात्–हे अर्जुन! इस संसार में दो प्रकार से इस सिद्धान्त को पहले समझाया गया है। सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा योगियों को कर्म योग के द्वारा। संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्मों को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता और जो लोग कर्म मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग सिद्धि को नहीं पा सकते। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे। प्रकृति स्वयं ही उनसे कर्म करवा लेती है। इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयमन करके इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्–दम्भी कहा जाता है और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर के कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिये हे अर्जुन तू शंका छोड़कर के बिल्कुल निश्चित मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्विकी बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

अर्थात्—जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ मनुष्य नेकी करे और कुँए में उसे डाल दे अर्थात् दान, पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे परन्तु इनके फल की इच्छा बिल्कुल न करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है। कर्म कहलाता ही वह है जिसमें मन के अच्छे या बुरे संकल्प जुड़े रहते हैं। मन के अच्छे बुरे संकल्प ही कर्म संविधान के जनियता हैं। यदि कर्म करते हुए मनुष्य के मन में उनके फल की कोई इच्छा नहीं है तो वह कर्म कर्म नहीं कहलायेगा। वह अकर्म ही होगा। जैसे एक मनुष्य चलते–फिरते उठते–बैठते अपने मुख नासिका तथा हाथ पैर आदि को हिलाता है, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं रहता कि मैंने यह हाथ क्यों हिलाया? पैर में हरकत क्यों दी? वैसे यह हरकतें क्रियात्मक कर्म तो बन ही जाती हैं किन्तु इन हरकतों में अच्छे–बुरे का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः यह हरकतें क्रियात्मक होने पर भी कर्म नहीं कहलातीं। इसी प्रकार से जो मनुष्य बड़े–बड़े दान पुण्यादि कर्म करता है और हरयाणा की लोकोक्ति के अनुसार 'नेकी करो और कुँएं में डाल दो' के सिद्धान्त को सामने रखता है तो वास्तव में वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्—जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं वह कोई कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग–दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञाता समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म–लेप लागू नहीं होता। सूत्र है—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।

योग द0 1/50

अर्थात्—ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहीं रुक जाया करते हैं। इसलिये जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात

समाधि की पराकाष्ठा को पहुंच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिये? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिये। क्योंकि-

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।

अर्थात्-महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप से रखा और कहा-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।
यदिह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।

अर्थात्-हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिये कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिये। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रखे। यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपनाकर कर्म करते हुए निष्कर्मता को पा जाया करते हैं। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने बार-बार दोहरा कर इसी सिद्धान्त को कहा है-

पाँचवें अध्याय के आरम्भ में इसी सिद्धान्त को न समझने के कारण भगवान से अर्जुन ने फिर प्रश्न किया-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

अर्थात्-हे अखिलात्मा आप कर्म संन्यास की बात करते हैं और फिर कर्मयोग की पुष्टि करते हैं। अतः इन दोनों में से जो भी श्रेष्ठ है और कल्याणकारी है, निश्चय करके

वही सिद्धान्त मुझ से कहें। भगवान ने पुनः और अधिक स्पष्टीकरण के साथ उत्तर दिया—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।

अर्थात्—हे अर्जुन! कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी है किन्तु इन दोनों में से कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है। उस व्यक्ति को नित्य ही संन्यासी समझना चाहिये जो न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु की कामना करता है वह निर्द्वन्द्व रहकर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है।

हे महाबाहो अर्जुन! सांख्य और योग को अज्ञानी बाल-बुद्धि वाले न्यारा-न्यारा कहते हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी जो अनुसरण कर लेता है वह दोनों के फल को पा जाता है। किन्तु एक विशेष बात है वह यह कि बिना योग के संन्यास को प्राप्त कर लेना बहुत ही कठिन है और योग युक्त मुनि तत्काल ब्रह्म को पा जाता है।

इस प्रकार से भगवान ने निष्काम कर्मयोग को पूरी तरह से स्पष्टता के साथ समझा दिया। अन्त में निष्कर्म की बात यही आती है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

'सिद्धयोग' पत्रिका के सन् 1968 से सन् 1990 तक के अंक उपलब्ध हैं। इच्छुक लोग इन्हें सवांई आश्रम से प्राप्त कर सकते हैं।

व्यवस्थापक
'सिद्धयोग' सवांई, आगरा

सम्पादकीय–

योग साधना में श्रद्धा व विश्वास का महत्त्व

–आचार्य डॉ. दासलाल जी महाराज

योग सिद्धि में श्रद्धा व विश्वास का बहुत ही महत्त्व है। श्रद्धा ही योग साधना का मूलाधार है। सभी धर्मग्रन्थों मे श्रद्धा के महत्त्व को दर्शाया गया है। गीता में भी भगवान कहते हैं–

'श्रद्धावान लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रियः'

(गीता 4/39)

श्रद्धालु साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। आगे भी कहा है गीता में–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन–सेवया
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनः तत्वदर्शिनः।

(गीता 4/34)

अर्थात् हे अर्जुन! उस तत्व ज्ञान को तुम गुरुदेव के समीप जाकर प्रणिपात करके साष्टांग प्रणाम करके, जिज्ञासु भाव से प्रश्न पूछकर के तथा विभिन्न प्रकार की सेवा करके उसको जानो। तत्व ज्ञानी योगी तुम्हें उस दिव्य ज्ञान का उपदेश करेंगे तब तुम आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकोगे।

श्रद्धा एवं भक्ति समानार्थक शब्द है। भगवन् के विराट रूप को हर व्यक्ति देख नहीं सकता। भगवान् ने कहा–

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेविंधोऽर्जुन।
ज्ञातुम् द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।

(गीता 11/54)

अर्थात् मैं अनन्या भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार से देखा जा सकता हूँ। भक्ति के द्वारा ही भक्त मुझे जान सकता है, देख सकता है और अन्त में तत्व रूपी समाधि के द्वारा मुझ में प्रवेश पा सकता है। अनन्य भक्ति के अतिरिक्त वेदपाठ से, दान से, यज्ञ से अथवा उग्र तपस्या से भी मैं प्राप्त नहीं होता हूँ। श्रद्धा से रहित किया गया यज्ञ, दान और तपस्या असत् कहा गया है इसका न तो इस लोक में फल मिलता है और न ही परलोक में।

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण भेद से श्रद्धा भी अलग–अलग प्रकार की हो जाती है। भगवान् कहते हैं–

यजन्ते सात्विका देवान् यक्ष रक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।

(गीता 17/4)

अर्थात् सात्विक लोग तो देवताओं की आराधना करते हैं। राजसी लोग यक्ष और राक्षस की पूजा करते हैं तथा तामस प्रधान लोग प्रेत और भूत गणों की उपासना करते हैं।

जिसका जैसा अन्तःकरण है वह वैसी ही पूजा करता है।

''श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः''

(गीता 17/3)

परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा होती है भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं।

भगवान कहते हैं कि योगियों में भी मैं उसे सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ जो शक्तियों का भंडार होते हुये भी अन्तरात्मा से अत्यन्त श्रद्धा युक्त होकर मृत्यु पर्यन्त मुझे भजता ही रहता है। आदि गुरु शंकराचार्य जी महाराज ने विवेक चूड़ामणि में एक श्लोक के द्वारा श्रद्धा के विषय में कहा है–

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणा
सा श्रद्धा कथिता सद्‌भिर्यया वस्तुपलभ्यते।

अर्थात् श्रद्धा उस वस्तु का नाम है जिससे साधक मोक्ष शास्त्र एवं गुरुदेव के वाक्यों का ठीक से अर्थ समझ लेता है उसे ही श्रद्धा कहते हैं अर्थात् साधक के मन में शास्त्र और गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास हो जाये वही श्रद्धा कहलाती है।

इसी श्रद्धा के आधार पर वह साधना करते हुए विवेक ख्याति तक पहुँच जाया करता है।

गुरु के वाक्यों में असत्य का लवलेश नहीं देखता है वही साधना में उन्नति पा सकता है। रामचरितमानस में भी श्रद्धा को योग सिद्धि का मूल मन्त्र माना है। प्रारम्भ में ही सन्त तुलसीदास जी कहते हैं।

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्य मीश्वरम्।।

अर्थात् हम शिव और भगवती पार्वती की वन्दना करते हैं जो श्रद्धा और विश्वास की मूर्तिमान देव हैं इनकी कृपा के बिना सिद्ध लोग भी अपने अन्तस् में विराजमान ईश्वर को नहीं देख सकते हैं।

सन्त तुलसीदास जी आगे श्रद्धा के विषय में पुनः कहते हैं–

श्रद्धा बिना धर्म नहीं होई
बिनु महि गन्ध कि पावइ कोई।

श्रद्धा के बिना कोई धर्म या अनुष्ठान सिद्ध नहीं होता जिस प्रकार से गन्ध का उद्भव पृथ्वी से ही होता है। आगे और भी कहते हैं–

गुरु के वचन प्रतीति न जेही
सपनेउ सिद्धि सुलभ नहि तेही।

अर्थात् जिन लोगों को गुरुदेव के वचन पर विश्वास नहीं होता है उन्हें स्वप्न में भी सिद्धि सुलभ नहीं होती है। इस प्रकार से सन्त तुलसीदास जी ने श्रद्धा और भक्ति को ही परमात्मा प्राप्ति का एकमात्र साधन माना है।

पातञ्जल दर्शन में दो प्रकार के योगी माने गये हैं। एक योगी 'भवप्रत्यय' वाले कहलाते हैं जो योग भ्रष्ट भी कहे जाते हैं। उनकी साधना का मार्ग बहुत सारा पूर्वजन्म में ही तय हो चुका होता है। शेष थोड़े से संस्कारों का क्षय के लिये जन्म धारण कर इस जन्म में साधनारत होकर लक्ष्य को निर्बीज समाधि को पा जाया करते हैं।

दूसरे योगी वे होते हैं जो पूर्व जन्मों के पुण्य पुञ्ज के फलित होने पर योग–विद्या के जिज्ञासु बनकर साधना में आरूढ़ होना चाहते हैं। इन्हें हम आरुरुक्ष योगी कह सकते हैं जो योग मार्ग में आगे बढ़ने की दृढ़ इच्छा रखते हैं। इस प्रकार के योगियों के लिये पतञ्जलि देव जी ने एक सूत्र दिया है–

'श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वकमितरेशाम्।'

(योग सूत्र 1/20)

उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा निर्बीज समाधि के सोपान हैं।

इनमें सर्वप्रथम श्रद्धा की भूमिका है।

श्रद्धा की व्याख्या करते हुये भाष्यकार व्यासदेव जी लिखते हैं–

श्रद्धा चेतसः संप्रसादः।
साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।
तस्यहि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते।
सुमुपजात वीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते।
स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीय ते
समाहित चित्रस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते।
येन यथार्थ वस्तु जानाति।''

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसारण है। जहाँ श्रद्धा है वहाँ चित्त प्रसन्न होता है। यही चित्त का प्रसारण है। यदि साधक के चित्त में श्रद्धा है तो वह श्रद्धा योगी के लिये माँ की तरह कल्याणकारी होती है। माँ जिस प्रकार शिशु को हर समय कष्टों से बचा कर रखती है वैसे ही साधक के मन की श्रद्धा साधक को पतन से बचाती रहती है और अंततः संसार के पतन से भी बचा लेती है।

श्रद्धालु व विवेकी साधक के अन्दर अद्‌भुत वीर्य व उत्साह रहता है। इसी उत्साह व आस्था के कारण चित्त शुद्धि के कारण स्मृति या आत्मबोध बना रहता है। इस स्मृति के बने रहने से चित्त समाहित होने लगता है और समाहित चित्त में प्रज्ञा विवेक का उदय होता है। इसे ही विवेक ख्याति कहते हैं। यही हृदय ग्रन्थि के भेदन का कारण होता है। अज्ञान का निवारण पूर्णरुद से हो जाता है।

इस प्रकार से कह सकते हैं कि श्रद्धा ही विवेक ख्याति का मूलाधार है। ईश्वर प्राणिधान या भक्ति विशेष श्रद्धा है जो ईश्वर को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तब ईश्वर योगी को उसका परम अभीष्ट फल समाधि लाभ करा देते हैं। यम–नियमों में भी ईश्वर प्रणिधान का समावेश है। ईश्वर प्रणिधान भी समाधि प्राप्ति के उपायों में से प्रमुख उपाय हैं। श्रद्धा जहाँ पर होती है वहाँ साथ में तप का भी उद्‌भव हो जाता है। बिना तप के योग कभी सिद्ध नहीं होता इसलिये श्रद्धा के साथ–साथ तप का होना आवश्यक है। '**नातपस्विनों योगः सिद्धयति**' जो श्रद्धालु के साथ–साथ तपस्वी नहीं हो तो उसे कभी योग सिद्ध नहीं होता है। हमारी बुद्धि व मन में श्रद्धा रहती है यही श्रद्धादेवी कही जाती है। **"या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता, नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः"** जो मनुष्य की बुद्धि में श्रद्धा के रूप में स्थित है उस देवी को बार–बार नमस्कार है। वेदान्त शास्त्र में भी श्रद्धा का मुख्य स्थान है। इस प्रकार से निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि ईश्वर प्राप्ति में श्रद्धा का सर्वोपरि स्थान है।

श्रद्धा के विषय में अंग्रेजी में भी कहावत है–'Faith Can Work Miracle' अर्थात् जहाँ श्रद्धा है वहाँ चमत्कार स्वतः हो जाते हैं। पाश्चात्य भक्तों ने भी श्रद्धा के बल से अनेक चमत्कार कर दिखाये हैं। उन्हें 'Saint' सन्त की उपाधि दी गई है। हमारे भारत में तो भक्तों ने अनेकानेक चमत्कार कर दिखाये हैं जिससे अन्य लोगों में भी परमात्मा के प्रति श्रद्धा बनी है। चमत्कार को नमस्कार है यह उक्ति प्रसिद्ध है।

अतः निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि साधना की आधार भित्ति श्रद्धा ही है। इसके अभाव में लक्ष्य की प्राप्ति असंभव है।

श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्या

-डॉ. विजय सिंह

वह अव्यय तत्व ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में व्यक्त होकर ऋष्टि संरचना, पालन और संहार का कार्य करता है। अट्ठासीवें अध्याय में राजा परीक्षित ने भगवान शुकदेव से पूछा—भगवन्! भगवान शिव परम विरक्त हैं परन्तु उनकी उपासना करने वाले प्रायः धनी और भोग सम्पन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत लक्ष्मी पति भगवान विष्णु के उपासक प्रायः धनी और भोगसम्पन्न नहीं होते? मैं आपसे इसका रहस्य जानना चाहता हूँ।

श्रीशुकदेव जी ने कहा—परीक्षित्! शिवजी सदा अपनी शक्ति से युक्त रहते हैं। वे सत्व आदि गुणों तथा अहंकार के अधिष्ठाता हैं। अहंकार के तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस एवं तामस। इन्हीं के प्रभेद से दस इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन उत्पन्न हुआ है। अतः इन सबके अधिष्ठातृ-देवों में से किसी एक की उपासना से समस्त ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।।3।।
ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन।
उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम्।।4।।

अ. 88 स्क. 10

परीक्षित्! भगवान हरि प्रकृत से परे स्वयं पुरुषोत्तम हैं। वे सर्वज्ञ एवं सभी के अन्तःकरणों के साक्षी हैं। जो उनको भजता है वह गुणातीत हो जाता है। जब तुम्हारे दादा युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ हो चुका तब युधिष्ठिर को भगवान ने, मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश किया था।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—राजन्! जिस पर मैं कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे छीन लेता हूँ। तब उसके सगे-सम्बन्धी उसका साथ छोड़ देते हैं। वह जब धन के लिये प्रयत्न करता है तब मैं उसके प्रयत्न को भी निस्सार कर देता हूँ। अब वह विरक्त होकर मेरे प्रेमी भक्तों का संग करने लगता है, तब मैं उस पर अपनी कृपा की वर्षा करता हूँ। जिसके फलस्वरूप उसे परब्रह्म की प्राप्ति होती है। दूसरे देवता शीघ्र प्रसन्न होकर

भक्तों को वर दे देते हैं। वे वर पाकर उन्मत्त, प्रमादी हो उठते हैं और अपने इष्ट को भूल जाते हैं।

श्री शुकदेव जी ने परीक्षित् से कहा—एक प्राचीन कथा है। भगवान शंकर एक बार वृकासुर को वरदान देकर संकट में पड़ गये थे।

वृकासुर केदार क्षेत्र में जाकर अग्नि को भगवान शंकर का मुख मानकर अपने शरीर का माँस काट—काटकर हवन करने लगा। छः दिन व्यतीत होने पर जब भगवान शंकर प्रकट नहीं हुये। तब वह सातवें दिन अपने मस्तक को काटकर हवन करना चाहा उस समय भगवान अग्नि कुण्ड से प्रकट होकर वृकासुर को गला काटने से रोक दिया। भगवान शिव के स्पर्श से वृकासुर के अंग ज्यों के त्यों पूर्ण हो गये। भगवान शंकर ने कहा—वृकासुर! मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ, तुम मुँहमाँगा वर माँगो। उस पापी वृकासुर ने यह वर माँगा कि 'जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूँ, वही मर जाये।' भगवान शंकर अनमने से होकर बोले, 'अच्छा, ऐसा ही हो।'

वर पाकर वृकासुर के मन में पार्वती जी को पाने की लालसा जगी और वह भगवान शंकर को भस्म करने हेतु उनके पीछे पड़ा। भगवान शंकर समस्त दिशाओं में भागते गये। वृकासुर पीछा करता रहा। भक्तभय हारी भगवान हरि ने शंकर जी को संकट में पड़े देखा। तब वे अपनी योगमाया से ब्रह्मचारी बनकर दूर से ही धीरे—धीरे वृकासुर की ओर आने लगे।

तं तथा व्यसनं दृष्ट्वा भगवान वृजिनार्दनः।
दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा वटुको योगमायया।।27।।

(अ. 88 स्क. 10)

वटुक ब्रह्मचारी वेशधारी भगवान के एक—एक अंग से ज्योति निकल रही थी। वृकासुर को देखकर उन्होंने बड़ी नम्रता से झुककर प्रणाम किया। और चतुराई से अपनी बातों में उसे मोहित कर लिया। वृकासुर से बोले—दानवराज! आप शंकर की बात पर विश्वास कर लिये। वह तो दक्ष प्रजापति के शाप से अघोर भाव को प्राप्त हो गया है। आप इतने बुद्धिमान होकर ऐसी बातों पर विश्वास कर लेते हैं? आप यदि अब भी उसे जगद्गुरु मानते हो तो झटपट अपने सिर पर हाथ रखकर परीक्षा कर लीजिये। भगवान के मोहित करने वाले वचनों के प्रभाव में आकर वह दुर्बुद्धि ने भूलकर अपने ही सिर पर हाथ रख लिया। तत्काल सिर फट गया और वृकासुर मरकर धरती पर गिर पड़ा।

अब भगवान पुरुषोत्तम ने भयमुक्त शंकर जी से कहा—देवाधिदेव! बड़े हर्ष की बात है कि इस दुष्ट को इसके पापों ने ही नष्ट कर दिया। परमेश्वर! भला, ऐसा कौन प्राणी है जो महापुरुषों का अपराध करके कुशल रह सके? फिर स्वयं जगद्गुरु विश्वेश्वर! आपका अपराध करके कोई कैसे सकुशल रह सकता है।

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ।।39।।

(अ. 88 स्क. 10)

उन्नासिवें अध्याय में महात्मा भृगुजी द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा की कथा कही गयी है तथा भगवान् द्वारा ब्राह्मण–बालकों को जो मर चुके थे उन्हें वापस लाने की अद्भुत कथा वर्णित है।

सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ के लिये एकत्र ऋषियों में यह विवाद उठा कि त्रिदेवों में सबसे बड़ा कौन है? इस हेतु भृगुजी को परीक्षा लेने के लिये परीक्षक नियुक्त किया। सबसे पहले वे ब्रह्मा जी के सभा में गये। वे उनके पुत्र होते हुये भी न तो उन्हें नमस्कार किया और न वन्दना। ब्रह्मा जी को भृगु पर क्रोध आ गया। परन्तु अपना पुत्र समझकर अपने क्रोध को विवेक से दबा लिया।

अब महर्षि भृगु कैलास गये। देवाधिदेव ने उन्हें आलिंगन करने हेतु भुजायें फैला दीं। परन्तु भृगु जी उनसे गले न लग कर कहा—तुम लोक और वेद की मर्यादा का उल्लंघन करते हो, मैं तुमसे नहीं मिलता। यह सुनकर भगवान शंकर अत्यन्त क्रोधित हो त्रिशुल से उन्हें मारना चाहा। परन्तु भगवती सती ने अनुनय–विनय कर उनका क्रोध शान्त किया। अब भृगु जी वैकुण्ठ में गये। उस समय भगवान विष्णु लक्ष्मी जी के गोद में सिर रखकर लेटे हुये थे। भृगु जी ने उनके छाती पर एक लात कस कर मारी। भगवान विष्णु लक्ष्मी सहित झटपट उठ बैठे और सिर झुका कर प्रणाम किया और बोले—ब्रह्मन्! आपका स्वागत है। आपके शुभागमन का पता न था अतः आपकी आगवानी न कर सका। महामुने आपके चरणकमल अत्यन्त कोमल हैं, यह कहकर भगवान उनके चरण को सहलाने लगे। भृगु जी परम सुखी और तृप्त हो गये। भक्ति के उद्रेक से उनका गला भर आया। वे चुप ही रहे। वे सरस्वती तट पर आकर अपने अनुभव सुनाये। तब से भगवान विष्णु ही सर्वेश्वर माने जाते हैं।

''ॐ नमो श्री राम लाल प्रभु जी परब्रह्मणे नमः''

लीलाधारी की लीलाएँ......'प्रथम'

–जगदीश राए बंसल 'अधम' 9212434003

जगत नियन्ता सर्वाधार अखिल ब्रह्माण्ड नायक महाप्रभु श्री राम लाल जी महाराज के लाड़ले उत्कृष्ट शिष्य आदरणीय श्री रघुनन्दन सूद जी जो मूल रूप से होशियारपुर (पंजाब) निवासी और वर्तमान में थाईलैण्ड के बैंकॉक में रह रहे हैं एवं अपने दिल्ली स्थित परिवार के पास आते रहते हैं। आपने योगेश्वर प्रभु **''रामलाल करुणा कृपालीला''** नामक एक ई–पुस्तिका का अपने दिव्य एवं आश्चर्य जनक आध्यात्मिक अनुभवों के रूप में दिनांक 5 अप्रैल 2017 को दिल्ली आश्रम से रघुनन्दन–मनोरमा की 60वीं विवाह वर्षगाँठ पर श्री प्रभुजी के आशीर्वाद रूप में विमोचन किया। पुस्तक में अनेक चमत्कारी–कल्याणकारी प्रसंग हैं, जो साधकों के हितार्थ सूद साहिब की तरफ से लिखने का प्रयास किया गया है......।

मेरा प्रारब्ध कर्म–मेरी प्रिय नगरी होशियार पुर में मेरा जन्म दिनांक 07–12–1929 को एक धनाढ्य परिवार में हुआ। मेरे जन्म के 22वें दिन ही मेरी जननी मुझे मेरे हाल पर छोड़कर गौलोक सिधार गई। मेरे पिताजी को दूसरी शादी करनी पड़ी। मेरी नई माता श्रीमति लाजवन्ति बड़ी उदार, प्रभुभक्त, उच्चकोटि की, महन्त लक्ष्मीधर महाराज से दीक्षित थीं। उसने माता यशोदा वाला लाड़ प्यार मुझ पर लुटा दिया। भगवान श्रीकृष्ण की लीलायें गा–गा कर मुझे निद्रा मग्न करती थी। कीर्तन, रामकथा आदि का संस्कार देना ही माता की मुस्कान थी। अरे कहना पड़ेगा कि–

जो मस्ती माँ की आँखों में है, वो किसी आँख में नहीं,
जो अमीरी माँ के दिल में है, वो महलों में नहीं।
शीतलता पाने को कहाँ भटकता है प्यारे,
जो माँ की गोद में है वो हिमालय में नहीं।।

माताश्री को प्रभु दर्शन–यह पूर्व कृत शुभाशुभम कर्म का प्रतिफल ही कहिए कि योग साधन आश्रम के संचालक एवं कथा गुरू आदरणीय प्रो. श्री चमनलाल कपूर जी से माता श्री को सत्संग में पधारने का सादर निमन्त्रण मिला। माता जी फूली न समाई और मुझे भी साथ ले चली। घर लौट कर माता जी ने पूछा कि सत्संग में चौकी पर विराजमान, दिव्य तेज युक्त, पगड़ीधारी धोती कुर्ता वाले महापुरुष कौन थे? प्रत्युत्तर में मैंने निवेदन किया कि माताजी आश्रम की चौकी पर कोई फोटो या महापुरुष विराजमान नहीं था। अगले दिन यह बात मैंने आदरणीय श्री कपूर जी से माता का अनुभव साझा

किया तो उन्होंने मुझे एक पुस्तक दी।

उस पुस्तक में मेरी माताश्री ने जटाधारी, सिद्धयोगावतार श्री प्रभुजी का चित्र देखकर आह्लादित होकर कहा, "ये ही तो हैं जो वहाँ विराजमान थे।" धन्य है ऐसे अशरण-शरण पर कृपा करने वाले दया सागर श्री प्रभु जी महाराज। कहना पड़ेगा-

पूर्व जन्म के शुभ कर्मों से, मुझे तेरा प्यार मिला।
जहाँ सारी दुनियाँ झुकती है, मुझे ऐसा दरबार मिला।।

श्री प्रभु जी के रूप-शबरी, अनसुईया, मीरा माताओं की तरह मेरी माँ का योगांकुर फूट पड़ा। कबीर जी कहते हैं, रे सन्तों-

चिंगारी जो लगाए-सागर उसे बुझाए।
जब सागर में ही चिंगारी लगे-उसे कौन बुझाए।।

परिणामतः मेरी माता श्री अगले दिन त्रयलोक पावन भगवान श्रीकृष्ण जी की आरती पश्चात् ध्यान में बैठी तो उसके सामने एक पुस्तक खुली। पुस्तक में स्वर्ण अक्षर दिव्य तेज युक्त थे। इन अक्षरों को माता जी पढ़ न सकीं तो आकाश वाणी हुई, ये वही प्रभु जी हैं-

जिन्होंने द्वापर में भगवान श्रीकृष्णा का रूप धारण किया, त्रेता युग में भगवान श्री राम का रूप धारण किया, ये वही हैं जो अपने भक्त प्रह्लाद के लिए नरसिंह रूप धारण किया, ये वही हैं जो वामन रूप में पधारे, ये वही हैं जो ....आदि रूपों में प्रकट हुए।" आकाशवाणी सुन कर माता श्री की आँखों से प्रेमांसुओं की झड़ी लग गई। वहाँ सत्संग में दर्शन दिए और यहाँ आकाशवाणी .... कैसी करुण कृपा है आपकी प्रभुजी? भक्त शिरोमणि बाबा तुलसीदास जी लिखते हैं कि-

राम ही केवल प्रेम पियारा।
जान लेऊ जोई जानन हारा।।

पुनः पुनः आशीर्वाद-सत्संग में दिव्य दर्शन और अब मखमली आकाशवाणी के कुछ पश्चात् मेरे पूज्य मौसाजी राए साहिब ने हमें सत्संग में बुलाया। माताश्री को आगे का स्थान मिला। वहाँ श्री बाँके बिहारी भगवान श्री कृष्ण के मधुर मधुर भजन सुन कर माताजी ध्यानस्थ हो गईं।

संगीत है शक्ति ईश्वर की-हर सुर में बरसे हैं राम।
रागी जो सुनाए राग मधुर, श्रद्धा में रमे हैं श्याम।।

मेरी माताश्री ने ध्यान में देखा कि मोर मुकुट धारी श्रीकृष्ण भगवान सुदर्शन चक्र लिए शीशे के फ्रेम से निकलकर पधारे और मेरे सिर पर वरदहस्त रखते हुए आशीर्वाद देकर चले गए। फिर वही कृष्ण जी श्री प्रभु रामलाल जी महाराज का जटाधारी रूप बना कर आए उसी प्रकार आशीर्वाद दे कर चले गए। फिर वही पहले वाले रूप में आए और वही आशीर्वाद देकर चले गए। फिर ....यह क्रम देर तक चलता रहा। सत्संग समाप्त हो

गया। सब भक्तजन चले गए। मेरी आदरणीय मौसीजी ने अपनी दीदी को गहरी नींद में समझ कर खूब हिलौरा ......। जब माताजी को कुछ सुध आई तो सत्संग का प्रसाद लेकर उसी मस्ती में घर चली आई। घर के दरवाजे यूँ ही खुले छोड़ कर बिस्तर पर लेट गई। प्रातः उठी, सारा दैनिक कार्य निपटाया और .... आठ दिनों तक इसी तरह दिनचर्या चलती रही। श्री गुरूनानक देव महाराज ने कहा है कि ''नाम खुमारी नानका–चढ़ी रहे दिन रात।'' आठ दिनों पश्चात् माताजी ने सारा अनुभव मुझे बतलाया कि यह कैसी थी लीला घर की लाला? कैसे स्वतः मन्त्रजाप चलता रहा? भगवान श्रीकृष्ण कैसे बैठे रहे मेरे हृदय में........... कौन दैनिक कार्य निपटाता रहा? .... इत्यादि।

माता तुम बड़ भागिनी–कौन तपस्या कीन्ह।
तीन लोक का तारण–तरण हुआ तेरे आधीन।।

सदा शिव भगवान के दर्शन–मैं (रघुनन्दन) सन् 1963 में अपनी पढ़ाई समाप्त करके सिकन्दराबाद चला गया। यहाँ से मैं एक यूनिट के साथ प्रैक्टिस के लिए जाते समय मार्ग भटक गया। वहाँ अनजान स्थान पर परब्रह्म श्री विश्वनाथ गुरूओं के महा गुरू भगवान सदाशिव महाराज जी ने साक्षात् दर्शन दिए और अमूलय आशीर्वाद दे कर कहा कि हम ही आपको यहाँ लाए हैं.........। फिर कुछ अन्तराल पश्चात् उन्होंने मुझे मेरे गन्तव्य पर पहुँचा दिया। ऐसे अकारण दयालु को कोटि–कोटि दण्डवत प्रणाम.......।

महाप्रभु जी रघुनन्दन बने–मैं सिकन्दराबाद में अपने कमरे में समाधिलीन था। कमरे के साथी मुझे समाधि में देख कर परेड करने चले गए। जब वे वापिस लौटे तो मुझे यथावत पाया। वे मुझे परेड में शामिल देख कर और यहाँ समाधि में देख कर हैरान थे। जब मैं उठा तो उन्होंने मुझ से पूछा कि हमने आपको परेड में भी देखा और यहाँ भी? यह सुन कर मैं स्वयं भी चकित रह गया अतः मैंने हाजरी रजिस्टर चैक किया। क्या बताऊँ, रजिस्टर में अपने हस्ताक्षर देख कर श्री महाप्रभु जी के इस करुणा लीला चमत्कार पर नतमस्तक हो गया।

बिन नौका के ही पार लगा दे, मेरा माँझी है कैसा अनोखा।
क्यों कोई छोड़े इनका दामन, पाके ऐसा मौका।।

यूं दी मुझे दीक्षा–मेरे भाग्य ने पलटा खाया–अज दिन राम मिलन का आया। बात ऐसे बनी कि एक दिन मैं श्री कपूर साहिब के योग साधन आश्रम होशियारपुर पहुँचा तो उस समय योगी राजश्री रघुवीर जी की उच्चारण समाधि लगी हुई थी और पूज्य प्रो. श्री चमनलाल कपूर जी उनकी वाणी को लिख रहे थे। इस विलक्षण घटना को देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। नयनों से झरने लग गए। उसी समय वहाँ एक अन्य प्रो. महोदय उनसे अपने प्रश्न पूछने लगे.......। यह सब देखकर मेरे मन में भी प्रश्न उछलने लगे। देखिए, यह मेरे संस्कार का ही वेग रहा होगा कि स्वयं अर्न्तयामी दया सिन्धु श्री प्रभु जी ने पूछा

कि "कहो बेटा, क्या पूछना चाहते हो?" मैंने श्री चरणों में कर बद्ध प्रार्थना किया कि प्रभुजी मेरे तारणहार गुरूदेव कौन हैं? मेरी श्रद्धालु मनुहार पर श्री प्रभु जी रामलाल जी महाराज एवं महाप्रभु परम हितकारी आशुतोष भगवान सदाशिव महाराज जी के मध्य कुछ विचार विमर्श हुआ, उपरान्त आनन्दकन्द श्री रामलाल जी महाराज ने कहा कि "बेटा, तुम्हारे गुरु महाप्रभु भगवान सदाशिव स्वयं हैं।" यह जान कर मैंने श्री सदाशिव को प्रणाम कर प्रार्थना किया कि हे महाप्रभुजी सदाशिव भगवान, मेरा तन-मन-धन सर्वस्व आप के श्री चरणों में समर्पित है, इसे स्वीकार करने की कृपा करें और इस अबोध बालक को अपनी शरण में दीक्षा देने की कृपा करें। श्री महाप्रभु जी महाराज ने आज्ञा प्रदान की कि "तुम्हारी दीक्षा हमारे द्वारा इस ऐतवार दिनांक 29 अगस्त 1954 को होगी, शेष चमन लाल को लिखवा देंगे और तुम्हारी दीक्षा की आरती में हम स्वयं रहेंगे।"

इस प्रकार महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने मुझे दीक्षा के साथ-साथ अपने स्नेह भरे प्यार से भी सराबोर कर दिया। कहते हैं न कि

वह तोल कर देता है न बोल कर देता है।
जब किसी पर रीझ जाये तो दिल खोल कर देता है।।

यम दूतों को भस्म किया—दिसम्बर 1956 में यमुना नगर कॉलेज से जब मैं (रघुनन्दन) छुट्टियों में घर होशियारपुर आया तो पिताश्री अस्वस्थ्य चल रहे थे। मेरी अनवरत सेवा, दवाई, परहेज एवं गुरुकृपा से आराम होना आरम्भ हो गया था। लेकिन मात्र एक दिन मुझे बाहर जाना पड़ गया। जब मैं लौट कर आया तो पिताजी को बेचैनी लगी हुई थी। पिताश्री ने बताया कि मुझे दो सिंगों वाले यमदूत दिखाई दे रहे हैं। मैंने अन्त मति सो गति जानकर पिताजी को एक भजन सुनाया—

इतना तो करना स्वामी, जब प्राण निकले तन से.......

प्रात:काल आदरणीय योगी राज श्री रघुवीर जी भी जालन्धर से हमारे निवास पर पहुँचे। रसोईए ने मुझे बताया कि आपके जाते ही पिताजी ने हलवा-पूरी बनवा कर खाया था। मैंने श्री रघुवीर जी को अब तक का सारा हाल सुना दिया। इस पर योगी जी हमारे घर वाले मन्दिर में ध्यान मुद्रा में बैठ गए। उनकी उच्चारण समाधि में यमदूतों से पूछा कि जिस स्थान पर श्री प्रभुजी विराजमान हैं, तुम वहाँ कैसे आए? तुम्हारी गलती क्षमा योग्य नहीं है......... कह कर अपने हाथ में श्री प्रभुजी का चरणामृत ले कर, दो बार छिड़क कर, उनको भस्म कर दिया।

पश्चात् योगी राज ने मुझे श्री चरणों से दो पुष्प दिए, कहा कि इन्हें कूटकर पिताजी को पानी पिला दें, अन्य पुष्प का जल आप सब पी लें। अब मंगलमूर्ति का चमत्कार हुआ कि पिताश्री बोले कि तीन विमान आ रहे हैं। एक में भगवान श्रीकृष्ण, दूसरे में श्री राम और तीसरा खाली है। पश्चात् वे राम-राम कह कर चुप हो गए। उनकी आँखों से प्राण गए। ये सब श्री प्रभु जी की अपार सिद्धानुकम्पा है। ऐसे अनादि, परम देव श्री प्रभु जी के चरणों में कोटि-कोटि प्रणाम-प्रणाम-प्रणाम।

"ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः"

गुरु-भक्ति का अनूठा ग्रंथ-गुरुगीता

अन्तू राम यादव, इलाहाबाद-211004

प्रातः स्मरणीय हमारे आप के प्राणाधार सद्गुरुदेव भगवान के पावन चरणों में प्रणाम करते हुए आइए गुरुगीता के महत्त्व पर कुछ चिन्तन-मनन किया जाये क्योंकि यह प्रसंग हर गुरु भक्त के लिये अत्यन्त प्रेरणादायक और आचरण में डालने योग्य है। श्रीमद्भगवत्गीता और गुरुगीता प्रत्येक साधक समुदाय के लिये ये दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। श्रोता, वक्ता, विषय-वस्तु एवं देश-काल-परिस्थिति का सूक्ष्मतम् विवेचन करने के बाद कुछ अनुभवी संतों ने गुरु गीता को कई मायनों में श्रीमद् भगवत् गीता से श्रेष्ठ ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भगवत् गीता का प्राकट्य रण-क्षेत्र में होता है जो स्थान बिल्कुल अशान्त है। सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं और रण-भेरियाँ बज रही हैं। युद्ध अब शुरु हो कि तब-ऐसा भयानक वातावरण है। गुरु गीता का प्राकट्य कैलाश-धाम पर होता है जो स्थान अत्यन्त शान्त एवं रमणीय है। बर्फ की सफेद चादर सी बिछी हुई है। चारों तरफ सुगन्धित फूल खिले हुये हैं और मन्द-मन्द सुगंधित वायु बह रही है। श्रीमद् भगवत् गीता के वक्ता वासुदेव भगवान श्रीकृष्ण हैं और गुरुगीता के वक्ता स्वयं देवाधिदेव महादेव हैं। श्रीमद्भगवत्गीता के श्रोता अर्जुन हैं जो अत्यन्त विषाद से ग्रस्त हैं और उनका मन अशान्त, संशय से भरा हुआ और मोह ग्रस्त है। वहीं पर गुरु गीता की श्रोता स्वयं माँ भगवती पार्वती जी हैं जो निष्काम एवं अत्यन्त शान्त-मना हैं।

प्रारम्भ में ही माँ पार्वती भगवान शंकर से कहती हैं कि हे स्वामी! आप मुझे शिष्या के रूप में स्वीकार करके यह उपदेश देने की कृपा करें कि किस मार्ग से चल कर जीव ब्रह्ममय की स्थिति को प्राप्त होता है? यद्यपि माँ भगवती सब कुछ जानती हैं। भगवान शंकर में और उनमें कोई भेद नहीं है। दोनों स्वरूपतः एक ही हैं फिर भी वे जन-कल्याण के लिये यह प्रश्न करती हैं। यह प्रश्न सुनकर भगवान शंकर गद्-गद् कंठ हो जाते हैं और कहते हैं-देवी! ऐसा कल्याणकारी प्रश्न पहले कभी किसी ने नहीं पूछा। इसका उत्तर भी अत्यन्त दुर्लभ है

फिर भी आप की प्रसन्नता के लिये मैं अवश्य कहूँगा। उत्तर में भगवान शंकर कहते हैं कि सद्गुरुदेव से बड़ा कोई दूसरा तत्व नहीं है। गुरु भक्ति का ही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चल कर जीव ब्रह्ममय की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। भगवान शंकर एक ही सत्य को बार–बार सुनाते हैं, बताते हैं, समझाते हैं–''अन्यत्र कहीं भटको मत, अन्यत्र कहीं उलझो मत, अन्यत्र कहीं अटको मत। उन्हीं की शरण गहो, जिन्होंने तुम्हें मंत्र–दान दिया है, जिन्होंने जीवन की राह दिखाई है। जो हर–पल, हर–क्षण अपनी अहैतुकी कृपा तुम पर बरसाते रहते हैं।''

गुरु गीता का प्रत्येक श्लोक, गुरु भक्ति का मार्ग–दर्शक बनकर हमारे सामने खड़ा है। भगवान शंकर ने अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है कि गुरु गीता का एक–अक्षर मंत्र–राज है और अन्य सभी मंत्र गुरुगीता के एक अक्षर के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं हैं। यदि कोई साधक श्रद्धा–भक्ति से एक श्लोक की साधना तन–मन से कर ले तो वह अध्यात्म की उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सकता है। आइए गुरुगीता के मात्र एक श्लोक पर चिन्तन करें जिसके एक चौथाई भाग की ही साधना से अनेक साधकों ने अपना जीवन धन्य बना लिया। वह श्लोक है–

''गुरुमूर्तिस्मरेन्नित्यं, गुरोर्नाम सदाजपेत्।
गुरोराज्ञांप्रकुर्वीत, गुरोरन्यं न भावयेत्।।''

उपरोक्त श्लोक में भगवान शंकर ने चार महान गुरु–भक्ति की साधनाओं का उल्लेख किया है। इस दृष्टि से इस श्लोक को चार भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग–''**गुरुमूर्तिस्मरेन्नित्यं**'' अर्थात् गुरु मूर्ति का नित्य स्मरण करना।

दूसरा भाग–''**गुरोर् नाम सदा जपेत्**'' अर्थात् गुरु–नाम अथवा सद्गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्र का सदा जप करना।

तीसरा भाग–''**गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत**'' अर्थात् किसी भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में गुरु की आज्ञा का पालन करना।

चौथा भाग–''**गुरोरन्यं न भावयेत्**'' अर्थात् एक निष्ठ होकर गुरुदेव के सिवाय अन्य किसी की भावना न करना।

अब प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसा भी कोई साधक हुआ है जो उपरोक्त श्लोक के एक भाग की ही साधना से अपने जीवन को धन्य बना लिया हो? उत्तर–हाँ! ऐसे बहुत से गुरु भक्त साधक हुए हैं परन्तु यहाँ सबका उल्लेख करना तो सम्भव नहीं है फिर भी एक–एक दृष्टान्त से इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।

उपरोक्त श्लोक के प्रथम भाग की साधना से संबंधित एक सच्ची घटना का उल्लेख किया जा रहा है। यह घटना बंगाल के महान सन्त विजय कृष्ण गोस्वामी और उनके शिष्य कुलदानन्द ब्रह्मचारी के संबंध में है। कुलदानन्द ब्र. ने अपनी डायरी में कई रहस्यमय साधना की चर्चा की है। ऐसी एक चर्चा उनके जीवन के उस काल–खण्ड की है, जब वे गहरे साधना–संघर्ष से गुजर रहे थे। काम वासना का प्रबल वेग उनके अन्तःकरण में रह रहकर उद्वेग करता था। उनकी समझ में नहीं आता था कि वे क्या करें? कैसे निपटें इस काम रूपी महाअसुर से हार कर उन्होंने अपनी विकलता अपने गुरुदेव से निवेदित की। अपनी व्यथा कहते हुए वे बिलख–बिलख कर रो पड़े। उनके आँसुओं से महात्मा विजय कृष्ण गोस्वामी के चरण भीग गये। उनकी इस विह्वलता से द्रवित होकर गोस्वामी जी ने उन्हें उठाकर ढाढ़स बँधाया और कहा–पुत्र तुम रोते क्यों हो? गुरु के रहते उनके शिष्य को असहाय अनुभव करने की कोई जरूरत नहीं है। अपने सद्गुरु के रहते हुए यदि कोई शिष्य विवशता अनुभव करता है, तो उसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उसका शिष्यत्व सच्चा नहीं है अथवा उसका गुरु सर्व–समर्थ नहीं है।

अपनी बातों को कहते हुय विजय कृष्ण गोस्वामी खड़े हुये और दीवार पर लगी अलमारी से अपनी एक छोटी फोटो कुलदानन्द को थमाई। और बोले–बेटा! तुम शिवभाव से इस फोटो का नित्य स्मरण करना, पूजा करना। तुम्हें अपने जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य आपदाओं से सुरक्षा मिलेगी। फोटो लेकर कुलदानन्द जी अपने निवास स्थान पर आ गये और गुरु मूर्ति की साधना में विलीन हो गये। साधना काल में ध्यान के पलों में एक दिन उन्हें अन्तदर्शन हुआ कि सुषुम्ना नाड़ी में अपनी चेतना के एक अंश को प्रविष्ट कर गुरुदेव उनकी चेतना को ऊपर उठा रहे हैं। गुरु कृपा से उसी क्षण उनकी अर्न्तचेतना, काम विकार से मुक्त हो गई। वे लिखते हैं कि फिर उन्हें काम का प्रकोप नहीं हुआ। इन्हीं दिनों उन्हें एक अन्य अनुभव भी हुआ। एक दिन साधना करते समय उनके कमरे की छत गिर पड़ी। जिस तरह से छत गिरी उस तरह से उन्हें दब कर मर जाना चाहिये था; परन्तु आश्चर्य जनक ढंग से जिस स्थान पर वे बैठे थे, उस स्थान पर छत का मलवा अधर में ही लटका रह गया। गुरु कृपा का अनुभव करते हुए वे उठे, फिर गुरुदेव की मूर्ति को उठाया और बाहर आ गये। जैसे ही वे बाहर आये अधर में लटकी छत तुरन्त भरभरा कर गिर पड़ी। उस समय गुरुदेव का कथन उन्हें याद आया, फोटो देते समय उन्होंने कहा था–पुत्र! यह चित्र तुम्हें आन्तरिक व बाह्य विपत्तियों से बचाएगा। कुलदानन्द के जीवन में यह सब आश्चर्य जनक चमत्कार कैसे हुआ–सिर्फ गुरु मूर्ति के स्मरण, चिन्तन–मनन से।

उपरोक्त श्लोक के दूसरे भाग की साधना का एक दृष्टान्त–एक साधक पर्वत की गुफा में बैठकर साधना करता था। उसकी साधना का एक मात्र स्वरूप था, केवल गुरु मंत्र का निरन्तर जप करना। जप के अतिरिक्त और वह कुछ नहीं करता था। उसकी गुरु भक्ति और गुरु मन्त्र के जप से प्रसन्न होकर भगवान शंकर एक दिन उसके समक्ष प्रकट हो गये और बोले–मैं शंकर हूँ, तुम्हारी जप साधना से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो वर माँग लो। उस गुरु भक्त ने कहा–आप शंकर जी हो या कोई और। मैं आप से कुछ क्यों माँगू? क्या हमारे गुरुदेव मुझे देने में सक्षम नहीं हैं। अगर हमें कुछ माँगना होगा तो मैं अपने गुरुदेव से माँग लूँगा, आप से क्यों माँगू?

उसकी इस गुरु भक्ति पर भगवान भोलेनाथ और प्रसन्न हुए और बोले–वत्स! तुम माँगो या न माँगो लेकिन आज से मैं सूक्ष्म रूप से तुम्हारे आस–पास विद्यमान रहूँगा और तुम्हारी हर तरह से मदद करता रहूँगा। इस प्रकार भगवान शंकर ने अदृश्य रूप से उस साधक को वह स्थिति प्रदान की जो अन्य को प्रायः दुर्लभ होती है। यह केवल मात्र गुरु मन्त्र की निरन्तर जप–साधना का फल है।

ऊपर वर्णित श्लोक के तीसरे भाग की साधना का एक सच्चा दृष्टान्त प्रस्तुत है–कुरेश भट्ट एक असाधारण मनीषी, परम् तपस्वी एवं ख्याति प्राप्त विद्वान थे। पण्डित समाज में उनका भारी मान था। अपने तप–बल से उन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। परन्तु अध्यात्म के यथार्थ तत्व से वे वंचित थे। इस बात की कसक उनमें थी; लेकिन साथ ही साथ उनमें कहीं अहंकार भी था कि वे परम विद्वान् एवं सिद्धि सम्पन्न हैं। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे किसे अपना मार्ग दर्शक गुरु बनायें। अन्त में बड़े सोच विचार के बाद उन्होंने आचार्य रामानुज की शरण में जाने का निश्चय किया। आचार्य उन दिनों भारत की धरती पर सर्वमान्य विद्वान थे। उनके तप की प्रभा से समस्त दिशाएँ प्रकाशित थीं।

अपनी जिज्ञासा को लेकर कुरेश भट्ट, आचार्य रामानुज के पास गये; परन्तु उनकी अहं वृत्ति के कारण आचार्य ने उन्हें अस्वीकृत कर दिया। कई बार उन्होंने इसके लिये प्रयास किया, पर हर बार असफल रहे। एक दिन जब वे आचार्य के पास बैठे थे, आचार्य की मुँहबोली बहन अतुला उनके पास आई और बोली–भैया ससुराल में मुझे रोटी बनाने में बड़ा कष्ट होता है। आपके पास कोई उपयुक्त व्यक्ति हो, तो उसे मुझे दे दीजिए; ताकि वह मेरी ससुराल में खाना पका सके। कुछ देर सोचने के बाद आचार्य की दृष्टि पास बैठे कुरेश भट्ट की ओर गई और उन्होंने कहा–कुरेश मैं तुम्हें अपना शिष्य तो नहीं बना सकता; परन्तु यदि तुम चाहो तो मेरी इस बहिन के यहाँ रसोइया बन सकते हो। परम विद्वान्, महाधनवान, प्रचण्ड

तपस्वी, सिद्धि सम्पन्न कुरेश के लिये ऐसा प्रस्ताव सुनकर पास बैठे लोग चौंक पड़े। लेकिन कुरेश भट्ट अहंभाव से भले ग्रस्त हों, पर शास्त्रों के मर्म से परिचित थे। उन्हें सद्गुरु की कृपादृष्टि का मर्म पता था। बिना क्षण की देर लगाये उन्होंने प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा–प्रभु! आप का शिष्य न सही, आप मुझे अपना सेवक होने का गौरव दे रहे हैं, यही मेरे लिये सब कुछ है। उस क्षण से लेकर वर्षों तक वे अतुला की ससुराल में रोटी बनाते रहे। साथ ही उनका मन सद्गुरु के ध्यान में रमा रहा। गुरु आज्ञा के इस पालन ने उनके अहं को धो डाला। उनकी चेतना उनके सद्गुरु से एक हो गई। आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान की विभूतियाँ उनमें आ विराजी। एक दिन आचार्य स्वयं उन्हें लेने उनके पास आये और बोले–वत्स! अब तुम स्वतः ही मेरे शिष्य बन गये हो। सद्गुरु की अमृत वर्षा करने वाली कृपा दृष्टि को पाकर कुरेश भट्ट का जीवन कृतकृत्य हो गया। यह सब सम्भव हुआ, मात्र गुरुदेव की आज्ञा के पालन से।

अन्त में उपरोक्त श्लोक के चौथे भाग की साधना का एक अद्भुत दृष्टान्त प्रस्तुत है–

स्वामी रामकृष्ण परम हंस के अनेक शिष्य थे। उनमें कई पढ़े–लिखे विद्वान और तपस्वी थे। उन शिष्यों में एक लाटू महाराज भी थे। ये निरे अनपढ़ और गँवार थे। एक दिन अन्य शिष्यों की तुलना में अपनी स्थिति पर विचार कर उन्होंने परम हंस देव से कहा–ठाकुर! मेरा क्या होगा? श्री ठाकुर ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा– "तुम क्यों चिन्ता करते हो, तेरे लिये मैं हूँ न। बस मेरा ध्यान किया कर, सब कुछ हो जायेगा।" गुरुदेव के इस वाक्य को अपना सर्वस्व मानकर उसी दिन से लाटू महाराज अपने गुरुदेव के चिन्तन–मनन एवं ध्यान की साधना में लग गये। गुरुदेव के अतिरिक्त उनके मन में किसी अन्य के बारे में दूर–दूर तक कोई विचार फटकने नहीं पाता था। मात्र इसी साधना से उनके जीवन में आश्चर्य जनक आध्यात्मिक परिवर्तन हुए।

अनेकों दैवीय घटनाएँ एवं चमत्कारों ने उनके जीवन को धन्य कर दिया। उनके अद्भुत आध्यात्मिक जीवन और योग शक्तियों के अद्भुत विकास को देख कर स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें अद्भुतानन्द नाम दिया। बाद में वे इसी नाम से विख्यात हुए। स्वामी विवेकानन्द उनके बारे में कहा करते थे–लाटू तो ठाकुर का चमत्कार है। एक अनपढ़, गँवार साधक के जीवन में यह अद्भुत चमत्कार अपने गुरुदेव के प्रति एक निष्ठ भावना एवं साधना से सम्भव हुआ।

गुरुगीता के प्रत्येक श्लोक के माध्यम से भगवान शंकर साधकों को यही उपदेश करते हैं कि प्रत्येक साधक को प्रयत्न पूर्वक सद्गुरु की आराधना के सिवा और कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। गुरुदेव जो भी कहे, जैसा भी काम सौंपे–वैसा ही करना। यदि वे शिष्य को काँटों भरी डगर से गुजारते हैं, तो केवल इस लिये कि इससे उसका कल्याण होगा। गुरुदेव बाहर से जितने कठोर होते हैं, अन्दर से उतने ही कृपालु और दयालु होते हैं। अनुकूल लगे या प्रतिकूल उनके द्वारा दिये गये प्रत्येक कष्ट में भविष्य के अनेकों सुखद अहसास समाये होते हैं। मन से सद्गुरु का चिन्तन–स्मरण, हृदय से गुरुदेव की भक्ति, वाणी से उनके द्वारा प्रदत्त मंत्र का जप और शरीर से उनकी आज्ञाओं का निष्ठापूर्वक पालन करने से समस्त दुर्लभ आध्यात्मिक विभूतियाँ, यौगिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ अनायास ही मिल जाती हैं। लेख में हुई त्रुटियों के लिए क्षमा याचना करते हुए, लेख को यहीं विराम दिया जा रहा है।

सादर जयगुरुदेव।

गुरुदेव का एक अकिंचन बालक–

अन्तू राम यादव

301, न्यू मेंहदौरी,

इलाहाबाद–211004

फोन–09936678368

लोग कहते हैं ''पहले योग्य बनो, फिर इच्छा करो।'' वेदान्त कहता है ''पहले योग्य बनो, इच्छा करने की कोई आवश्यकता नहीं।'' जो पत्थर दीवार में लगाए जाने योग्य है, वह रास्ते में पड़ा हुआ कभी नहीं मिल सकता। यदि तुम परमात्मा के अटल नियम द्वारा अपने में योग्यता उत्पन्न करोगे तो प्रत्येक वस्तु आप से आप तुम्हारी ओर चली आवेगी। जलता हुआ लैम्प पतंगों को बुलाने नहीं जाता, पतंगे स्वयं लैम्प के चारों ओर इकट्ठे होते हैं।

संस्कार शक्ति व साधना शक्ति

—कु. रुक्मिणी वर्मा, सहारनपुर

पूर्व प्रकरण में योग साधक का वैराग्य पल्लवित न होना तथा वैराग्य में बाधक संस्कार शक्ति का विक्षेप होना बताया गया था। संस्कार पूर्व जन्म की कर्मावस्था है, संस्कार कर्म के बाद की उत्पत्ति है, यह कर्म और फल के बीच की एक कड़ी है जिसे दार्शनिकों ने अदृष्ट की मान्यता दी है। अदृष्ट का नियामक ईश्वर है। अतः वह (परमात्म) अदृष्ट (संस्कार) के आधार पर फल का विधान करता है। संस्कार चित्त में सुरक्षित रहता है और फल भुगतान के साथ–साथ क्षीण होकर स्वयं नष्ट हो जाता है। संस्कार के कारण मानव का स्वभाव निर्मित होता है और अधिकांश नवीन कर्म चित्त में पड़े संस्कारों से प्रेरित होते हैं। अतः कर्म से संस्कार व संस्कार से कर्म की शृंखला चलती रहती है यदि संस्कार को काटने के लिए तत्सम्बन्धी निरुद्ध संस्कार उत्पन्न न किये जाये। काय संस्कार, मनः संस्कार तथा वाक् संस्कार ये तीन प्रकार के संस्कार दार्शनिकों को मान्य हैं तथा संस्कार दस प्रकार से प्रेरित होते हैं जिनका वर्णन भी पूर्व प्रकरण में किया गया था। महाराजा रणजीत सिंह के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया था कि किस प्रकार अन्य चित्त के संस्कार स्वयं के चित्त में प्रवेश करते हैं। अब आगे....

गुणैरुत्तमतां याति नोच्चैशसन संस्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुड़ायते।।

चा. नीति दर्पण 16/6।।

अर्थात् मनुष्य अपने श्रेष्ठ गुणों, सदाचार, शील और चरित्र द्वारा उत्तम होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। किसी बड़े भगवान के शिखर पर बैठने से ही कौआ गरुड़ नहीं हो जाता।

श्रेष्ठ मनुष्य के जो श्रेष्ठ लक्षण होते हैं, उसके स्वभाव व व्यवहार से ज्ञात हो जाते हैं और मनुष्य का व्यवहार उसके संस्कारों से प्रेरित होता है क्योंकि किये गये कर्मों के संस्कार चित्त में सुप्त अवस्था में सोये रहते हैं और जब–जब हम जैसे–जैसे वातावरण में रहते हैं, तब–तब वैसे–वैसे संस्कार जाग उठते हैं। इसीलिए अच्छी संगति में रहने और बुरी संगति से बचने की राय हमारे आर्य धर्म ग्रन्थ देते हैं। क्योंकि हम जैसी संगति व

वातावरण में रहते हैं उसका हमारे अन्तर्मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि मन की गहराई में जो संस्कार दबे हुए होते हैं वे प्रकट हो जाते हैं। इसलिए पुराने संस्कार उभर कर हमारा वर्तमान न बिगाड़ें इसके लिए जरूरी है कि बुरी संगति न ही करें, दूषित वातावरण से परहेज करें क्योंकि–

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शन वरम्। *(हितोपदेश)*

नीति में कहा गया है कि कीचड़ में पैर डालकर फिर उसे धोने से अच्छा है पैर कीचड़ में डाला ही ना जाये। Prevention is better than cure. अर्थात् इलाज कराने से रोग का बचाव करना अधिक उत्तम है।

अत: हमें जन्म से ही अच्छे संस्कार अपने अन्दर विकसित कर लेने चाहिये। परन्तु जैसे कि पूर्व प्रकाशित अंक में बताया गया था कि मनुष्य के संस्कार दस प्रकार से विकसित होकर सामने आते है और उसमें पहला संस्कार है गर्भ का संस्कार। कोई भी बच्चा गर्भ में स्वतन्त्र नहीं होता। अत: वह उस समय कर्म नहीं कर सकता। इसलिए उसकी माता के द्वारा किये कर्म जनित संस्कार उसे धरोहर रूप में मिलते हैं। जैसा माता–पिता का कर्म व्यवहार होता है उसकी अमिट छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। पिता की वह धातु तत्व जिसमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति होती है उस एक शुक्राणु में एक बच्चे के शरीर को जन्म देने की क्षमता होती है। अर्थात् प्रत्येक शुक्राणु एक शरीर ही है भले ही बीज रूप में है। इस धी में पूरा व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। जिस प्रकार आम की गुठली को बीच से खोलकर देखा जाये तो उसमें न कोई जड़ है, न तना, पत्तियाँ, फूल–फल आदि। यदि आम की गुठली को उचित खाद–मिट्टी में बोया जाये तो पूरा वृक्ष फल–फूलकर तैयार हो जाता है। अब सोचने की बात है कि उस बीज (गुठली) में से आम का वृक्ष कहाँ से आया? एक वृक्ष, उसकी जड़, पत्ती, फूल व फल की सम्पूर्ण ताकत अथवा गुण उसके बीज में अदृश्य रूप से विद्यमान रहते हैं। जब बीज यथाविधि उचित संरक्षण व भोज्य प्राप्त करता है तो एक वृक्ष अपने अन्दर से प्रकट कर स्थूल रूप में प्रकृति में दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार एक शुक्राणु एक शरीर (मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि) प्रकट करता है। अत: जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसके चित्त में पिता–माता का चित्त व गुण–धर्म स्वाभाविक ही होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसा कि कहा भी गया है, ''माँ पर धी (पुत्री), पिता पर घोड़ा (पुत्र) ज्यादा नहीं तो थोड़ा–थोड़ा।'' अत: यह बात पूर्णतया सत्य है कि बच्चे के गुण दोषों में उसके माता–पिता के गुण दोष भी निहित होते हैं। केवल यह बात माता–पिता तक ही सीमित नहीं, दादा–दादी, परदादा–परदादी तथा इससे आगे के पूर्वजों

के गुण–दोष वर्तमान जन्मजात सन्तान में पाये जाते हैं। इसलिए हिन्दू धर्म में जब विवाह होता है तो वर पक्ष व वधु पक्ष के माता–पिता एक दूसरे के खानदान (कुल) की परख कर लेते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि जो वधु इस कुल में आयेगी उसके द्वारा उत्पन्न हुई सन्तान में इस प्रकार के दोष न आ जायें जो कुल घातक या समाज में विद्रोह पैदा करने वाले अथवा राक्षसी प्रवृत्ति से युक्त हो। दोष युक्त सन्तान कुल–परिवार की शांति भंग करने में तथा कुल को नीचा दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ती। अतः खानदान की परख एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। इस विषय में एक दन्तकथा मुझे स्मरण हो रही है, जिसके द्वारा इस विषय को समझने में सरलता होगी।

एक सेठ जी के यहाँ चार पुत्र थे। सेठ जी बहुत धनाढ्य थे उन्होंने परिश्रम करके अपार सम्पत्ति हासिल की थी। तीन पुत्रों की शादी सेठ जी ने उच्च खानदान देखकर कर दी परन्तु चौथे पुत्र को किसी युवती से प्रेम हो गया। जब–जब सेठजी विवाह की बात चलाते तो कनिष्ठ पुत्र इन्कार कर देता। काफी कहने–सुनने के बाद पुत्र ने कहा कि यदि मेरी शादी होगी तो अमुक लड़की से अन्यथा नहीं। जब सेठजी ने उस कन्या का पूरा पता ले लिया तो उसके खानदान के विषय में खोज की। खोज करने पर पता चला कि कन्या की नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। सेठजी ने कहा कि हम तुम्हारी शादी उस घर में नहीं कर सकते क्योंकि उनके खानदान में दोष है। लड़के ने पूछा कि क्या दोष है? पिताजी ने उत्तर दिया कि उस लड़की की नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। पुत्र ने कहा कि हे पिता नानी की बात नानी के साथ थी। मैंने इस लड़की को खूब परख लिया, इसमें तो कोई दोष नहीं है। अतः विवाह करूँगा तो इसी लड़की से अन्यथा अविवाहित ही रहूँगा। पिता भी जिद् पर अड़ गये और पुत्र भी। परन्तु होनहार बलवान है, वह लड़का प्रेम रोग से पीड़ित होकर बीमार रहने लगा। इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ। दिनों–दिन चेहरा पीला पड़ता गया। आखिर में पिता को निर्णय बदलना पड़ा और पुत्र की शादी उसी लड़की से करनी पड़ी। पाँच–छः वर्ष आराम से गुजरे परन्तु शनैः– शनैः सेठजी को व्यापार में घाटा पड़ने लगा। जब सेठजी ने देखा कि जमा पूँजी भी निपटती जा रही है तो चारों पुत्रों को बुलाकर सलाह ली कि क्यूँ न हम दूसरा व्यापार शुरू कर दें अभी तो दुकान भी अपनी है व गहने आदि भी हैं। यदि हम सब सोना बेचकर उस पूँजी को व्यापार में लगा दें तो कर्ज भी लेने से बच जायेंगे। व्यापार चमकेगा तो सबसे पहले सोना ही खरीद देंगे। चारों पुत्रों ने एक स्वर में कहा कि हे पिता अब यही एक उपाय है। आपकी राय बिलकुल ठीक है, आखिर घर में गहना रखा हुआ दूध थोड़े ही दे रहा है।

काम ठीक हो जाये तो सोना ही सोना। पिता ने कहा कि ठीक है, तुम चारों अपनी–अपनी पत्नी से गहने लाओ। चारों पुत्र अपनी–अपनी बीवी से व्यापार की बात बताकर गहने माँगने लगे। सेठजी की बड़ी तीन पुत्र वधुओं ने खुशी–खुशी गहने दे दिये तथा कहा कि मुसीबत के समय ही तो ये सब काम आते हैं, आप व्यापार ठीक कर लीजिये, गहने बने या न बने। आप सबकी खुशी ही हमारा गहना है। सिर पर कर्ज न होना सबसे बड़ा गहना है और पति का खुश रहना तो सबसे अनमोल गहना है। परन्तु चौथी व कनिष्ठ पुत्रवधु ने साफ इन्कार कर दिया कि व्यापार क्या मेरे ही गहनों से चलेगा। मेरी माँ ने बचपन से मेरे लिए चीजें (जेवरात) बनवा कर रखी थी, अतः मैं अपने गहने बिल्कुल नहीं दूँगी। पति ने समझाया कि भाग्यवान व्यापार चमकते ही मैं तुम्हें दो गुना सोना ले दूँगा। पत्नी ने कहा कि इतना बड़ा व्यापार जब घाटे में आ गया तो क्या भरोसा नया व्सापार चले ना चले और मैं गहनों से से भी खाली हो जाऊँ। अतः मैं अपने जेवरात किसी कीमत पर नहीं दूँगी। पति ने कहा कि मेरे अन्य भाई तो पिता के पास जेवरात ले भी गये। तुम नहीं दोगी तो मेरी नाक कट जायेगी। पत्नी ने कहा कि नाट कटे या रहे परन्तु मैं जेवरात नहीं दूँगी। इस बात पर पति ने कड़ा रुख किया तो पत्नी तपाक से बोली, ज्यादा तीन–पाँच करोगे तो कुएँ में डूबकर मर जाऊँगी पर गहने नहीं दूँगी। पति की आँखें कुएँ में डूबकर मरने वाली बात पर फटी की फटी रह गयी और रह–रहकर पिता की वही बात दिमाग पर आघात करने लगी कि उसकी नानी कुएँ में डूबकर मर गयी थी। कहीं सचमुच ही कुएँ में डूब कर मर ना जाये, अतः मुँह लटकाये पिता के चरणों में गिरकर रोने लगा। पिता ने पूछा कि क्या बात है बेटा! तुम तो घर गये थे गहने लेने के लिए। क्या जेवरात खो गये हैं? पुत्र ने लज्जा से सिर झुकाकर सारी बात बता दी और कहा कि पिताजी आपकी बात न मानकर मैंने अपराध किया है। जो दोष युक्त खानदान से नाता जोड़ा और वही दोष इस घर में लाया हूँ। पिता ने कहा कि अब कुछ नहीं किया जा सकता। बड़े बुजुर्ग की हर बात में कीमती अनुभव छिपे रहते हैं जो नहीं मानता एक दिन उपहास का पात्र बनता है।

अतः मानव नहीं जानता कि स्वयं अपराध करके वह आने वाली पीढ़ी को अपराध करने की प्रवृत्ति कितने सहज तरीके से दे देता है। अतः मनुष्य में बहुत से गुण–दोष मात्र जन्म लेने के कारण आते हैं। अस्तु हममें से प्रत्येक मानव का धर्म बनता है कि किसी भी प्रकार अपने व्यवहार व क्रियाओं को साधे रखें। बहुत से व्यक्ति ज्ञान तो रखते हैं परन्तु व्यवहार में ज्ञान को नहीं लाते। अतः इस प्रकार के व्यक्ति दुर्योधन के भाई ही हैं। दुर्योधन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्ति:, जानामि अधर्मम् न च मे निवृत्ति:।

—*महाभारत*

मैं धर्म की परिभाषा जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं अर्थात् धर्म को व्यवहार में लाने की आदत नहीं। मैं अधर्म को भी जानता हूँ कि क्या करना गलत है, परन्तु अधर्म से मेरा छुटकारा नहीं क्योंकि मेरा व्यवहार परिपक्व हो चुका है। अत: नियम, कानून व ज्ञान का जानना क्षमा के लिए दलील नहीं होता। Ignorance of law is no excuse, कानून का न जानना भी माफी के लिए पर्याप्त नहीं। जो भी व्यक्ति जाने–अनजाने अधर्म का व्यवहार करेगा उसे सजा तो भुगतनी ही पड़ेगी। जिन माता–पिता को बच्चों के गलत कदमों की शिकायत है, वे स्वयं के कहीं न कहीं दोष की भी परीक्षा कर लें। कुल मिलाकर निष्कर्ष इस बात पर निकलता है कि यदि किसी व्यक्ति के संस्कार खराब हैं तो उसके व्यवहार में कई व्यक्तियों के संस्कार निहित रहने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। अत: जो भी व्यक्ति अपना भला चाहता है, उसे योग साधनारत् रहकर हर दिशा में हर विषय पर अपने चित्त में संयम लाना ही होगा ताकि गलत संस्कारों का आवेग कमजोर पड़कर फल–भोग की स्थिति से बचा जा सके। चरक संहिता में निर्देश दिया गया है कि–

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्यचेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्।।

चरक संहिता 7/26

अर्थात् इस जीवन में अपना भला चाहने वाले व्यक्ति को निषिद्ध, दुस्साहस वाले तथा मन वाणी और शरीर के निन्दित कर्मों के वेग को रोकना चाहिये। जो व्यक्ति संयम न बरतकर निन्दित कर्म करता है तो समझना चाहिये कि उसके मस्तिष्क की छाप अन्य मानस पटलों पर भी पड़ेगी। इसलिए बुरे संग से बचने की हिदायत हर ग्रन्थ देता है। अत: साहस, धैर्य और विवेक से काम लेकर नीति पर डटे रहने का अभ्यास परिपक्व कर लेना चाहिये ताकि ऐसे संस्कार के फलोदित समय को टालने में सफलता मिल सके जो संस्कार निजकृत कर्मों से सम्बन्धित नहीं थे। अन्यथा मनुष्य सारी उम्र निज सुधार व साधना में बिता देता है। फिर भी संस्कार चक्र में बार–बार उलझकर सारे कर्म भी बिगाड़ लेता है और साधना भी एक ही जगह ठहर सी जाती है, विकास नहीं हो पाता। संस्कारों का धरोहर में मिलना उत्थान व पतन दोनों का ही कारण बन सकता है। उच्च कुल व उच्च संस्कृति वाले परिवार में जन्म लेना ईश्वर की अनुकम्पा है और यह

अनुकम्पा वह साधक भक्तों पर करता है।

संस्कारों का प्रभाव मानव समाज पर ही नहीं पशु समाज में भी महत्त्व रखता है। इस बात को भी एक दंतकथा द्वारा समझा जा सकता है। एक राजा के केवल एक पुत्र था। राजा ने उस पुत्र को बड़े लाड़-चाव से पाला। जब राजकुमार बड़ा हुआ तो राजदरबार में बैठने लगा। राजकुमार काफी विधाओं में निपुण था। घुड़सवारी में सबसे तेज था। एक दिन राजकुमार ने अपने पिता से कहा कि वह सबसे उत्तम घोड़ा खरीदना चाहता है। अतः दरबार में उत्तम से उत्तम घोड़े मँगवाए जायें ताकि वह अपने मनपसन्द घोड़े का चुनाव कर सके। राजाज्ञा से दरबार में दूर-दूर से घोड़े मँगवाए गए। अन्त में एक घोड़ा राजकुमार ने पसन्द कर लिया परन्तु मंत्रीजी ने उस घोड़े को खरीदने से मना कर दिया। जब भी घोड़े लाये जाते थे, मंत्रीजी उस घोड़े के पूरे खानदान के विषय में जानकारी प्राप्त करते थे। जब राजकुमार ने पूछा कि एक ही घोड़ा लाखों घोड़ों में मैंने पसन्द किया है और उसे ही आप मना कर रहे हैं, आखिर क्यों? मंत्रीजी ने कहा कि प्राप्त जानकारी के अनुसार इस घोड़े की माँ का स्वभाव ऐसा था कि वह पानी को देखकर डर जाती थी। इस पर राजकुमार हँसने लगा कि माँ का दोष इस घोड़े पर क्यों आरोपित कर रहे हो? पानी मँगवाया गया, जिसे देखकर घोड़ा डरा ही नहीं। अतः मंत्री जी की बात पर ध्यान नहीं दिया गया और घोड़ा खरीद लिया गया। राजकुमार सुबह-शाम घुड़सवारी करता और विशेष सेवकों द्वारा घोड़े की देखरेख की जाती। एक दिन शिकार को गया राजकुमार रास्ता भटककर दूसरे देश में जा पहुँचा। उस देश के राजा की राजकुमार के पिता से कड़ी शत्रुता थी। अतः राजकुमार अपने आप को छिपाने की कोशिश में इधर-उधर घूम रहा था कि राजकुमारी से उसकी भेंट हुई दोनों का रोज बाग में मिलन होने लगा और प्रेम इस सीमा पर पहुँच गया कि दोनों ने विवाह करने का निर्णय कर लिया। परन्तु दोनों के पिता एक दूसरे के शत्रु थे। अतः विवाह को मन्जूरी मिलना सम्भव नहीं था। राजकुमारी ने सलाह दी कि तुम आधी रात में मेरे महल के पीछे ठहरना, मैं चुपके से ऊपर से तुम्हारे घोड़े पर कूद पड़ूँगी और तुम तुरन्त मुझे घोड़े पर बैठाकर अपने देश की सीमा की ओर बढ़ जाना। ऐसा ही हुआ परन्तु गुप्तचरों ने राजकुमारी को आधी रात के समय घोड़े पर जाते देखा तो पीछे राजा की सेना उन्हें पकड़ने के लिए लगा दी और एक गुप्तचर ने राजा को जगाकर इस घटना की सूचना दी। राजा ने तुरन्त तीव्रगामी घोड़ा लिया और सेना लेकर उसी दिशा में गया। इधर राजकुमार शत्रु के भय से घोड़े को तेज दौड़ाये जा रहा था।

मार्ग का सही ज्ञान नहीं था। चलते-चलते रास्ते में नदी पड़ी। पानी को देखकर घोड़ा

थम गया। राजकुमार ने लाख कोशिश की परन्तु घोड़ा वहीं बिदकता रहा, आगे नहीं बढ़ सका। इतने में राजा के दूत, सिपाही तथा थोड़ी देर में राजा और उसकी सेना भी वहाँ पहुँच गयी। जब राजकुमार को गिरफ्तार किया जाने लगा तो राजकुमार ने अपनी म्यान में से तलवार निकाली और घोड़े का सिर काट दिया। इस पर राजा ने पूछा कि मेरी बेटी को भगाकर ले जाने का दोष तुम्हारा था और तुमने घोड़े को दण्ड दिया, ऐसा क्यों? राजकुमार ने कहा कि हे राजन मैं अपने कार्य में पूर्णतया सफल होता परन्तु इस घोड़े ने मुझे धोखा दिया। इसे खरीदते समय हमारे राजमंत्री ने परामर्श दिया था कि इस घोड़े की माँ पानी देखकर डरती थी, अतः इसे न खरीदा जाये। परन्तु मैंने जिद् करके इसे खरीद लिया आज मुसीबत के समय भी इसका दोष न हट सका और मैं नदी पार करने से वंचित रहकर आपके आधीन हूँ। आज मैंने इसे खत्म करके इसके खानदान को नष्ट किया है क्योंकि यह भी इसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न करता और इसकी सन्तान में यह दोष आता। इतना सुनकर राजा ने युवक को क्षमा कर दिया। परन्तु सबके सामने राजकुमारी की गर्दन धड़ से अलग कर दी। राजकुमार ने कहा कि तुमने ऐसा क्यों किया? राजा ने कहा कि हे राजकुमार इस राजकुमारी की माता भी मेरे साथ भागकर आयी थी। और आज यह भी राजमहल से भागकर जा रही थी। कल यह भी ऐसी सन्तान उत्पन्न करती और उस सन्तान में भी ऐसा दोष आता। अतः मैंने इस दोष की जड़ आगे बढ़ने से रोक दी। ना होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि पशु के गुण–धर्म–स्वभाव भी मानव समाज की तरह भावी पीढ़ी के अन्दर सहज ही प्रवेश कर जाते हैं। अतः हमारा स्वभाव–व्यवहार परिपक्व व नीतियुक्त होना चाहिये। आचार संहिताओं की रचना भी इसी उद्देश्य को लेकर की गयी है जिससे उन्हें पढ़कर, समझकर व उन पर चलकर उत्तम व्यक्तित्व को धारण करके भावी समाज की नींव सुदृढ़ की जा सके। अतः सद्वृत्तों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बनता है। सद्वृत्तों की साधना सबसे बड़ी साधना है। यम, नियम का पालन ही सद्वृत्त है। एक सद्वृत्त का पालन करने से ही आरोग्य एवं इन्द्रियों पर विजय दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं।

अतः संस्कार चक्र को काटने के लिए साधना की शक्ति को बढ़ाना होगा ताकि तपोबल के आगे भुगतान में आने वाले संस्कार दुर्बल पड़ जायें और उनका प्रभाव न पड़ सके। साधना में सफलता मिलेगी या नहीं, साधना हो भी पायेगी या नहीं ऐसा सोचकर मन की शक्ति को बाह्य परिवेश के नीचे न दबने दें। वैदिक ऋषियों ने कहा है–चरैवेति,

चरैवति। अर्थात् चलते रहो, चलते रहो। जो मंजिल की ओर चलता रहता है वह एक न एक दिन पहुंच ही जाता है। प्रयत्न में शिथिलता न आये तो सफलता मिल ही जाती है। यथा–Try & Try again, you will succeed at last. एक अंग्रेजी विद्वान डा. नारमैन मेकलियड ने बहुत कीमती बात कही है, जिसे जीवन का आदर्श बनाकर आजीवन इस पर अमल करना ही चाहिये–

"Let the road be rough & dreary end its and for out of sight
Foot it brave, strong & weary Trust in God & do the right."

अर्थात् भले ही मार्ग खराब और खतरनाक हो, इस मार्ग का अन्त बहुत दूर और न दिखाई देने वाला हो, आप में बल हो या आप थके हों फिर भी आप साहसपूर्वक बढ़ते जाइये, ईश्वर पर भरोसा रखिये और जो ठीक हो वह कार्य करते जाइये। आप देर–सवेर अपना लक्ष्य निश्चित ही प्राप्त कर लोगे।

(क्रमशः)

'जिन लोगों में तप का लवलेश नहीं, संयम नहीं, आहार–विहार ठीक नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, योगध्यान नहीं, अन्तर्दृष्टि नहीं–ऐसे लोग न्यारा पंथ चलाते हैं, किन्तु इनमें सच्चाई नहीं होती। ऐसे लोग स्वयं तो अज्ञान–कूप में पड़े ही होते हैं, दूसरों को भी गुमराह करके पाप का भागीदार बनाया करते हैं। इसलिए सिद्धान्तों के वास्तविक निर्माता व प्रणेता ऋषिगण ही हुआ करते हैं। वे 'साक्षात्कृत धर्मा' व आप्त काम होते हैं। उनकी बुद्धि में जो भी बात आती है अथवा वे जो कुछ कह देते हैं–वह सत्य ही हुआ करती है।

–गुरुदेव

आध्यात्मिक गुरु

—स्वामी विवेकानन्द

यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा को पूर्णता की प्राप्ति होगी और अन्त में सभी प्राणी उस पूर्णावस्था को प्राप्त करेंगे। हम इस समय जो भी हैं, वह हमारे पिछले अस्तित्व और विचारों का परिणाम है तथा हमारी भविष्य की अवस्था हमारे वर्तमान कार्यों और विचारों पर अवलम्बित रहेगी। किन्तु इससे हमारे लिए दूसरों से सहायता प्राप्त करना वर्जित नहीं हो जाता। किसी बाह्य सहायता से आत्मशक्तियों का विकास अधिक तेजी से होने लगता है। अतः संसार के अधिकांश मनुष्यों के लिए बाह्य सहायता की प्रायः अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। हमारे विकास को स्फुरित करने वाला प्रभाव बाहर से आता है और हमारी प्रसुप्त शक्तियों को जगा देता है। तभी से हमारी उन्नति का प्रारम्भ होता है, आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है और अन्त में हम पावन और पूर्ण बन जाते हैं। यह स्फुरण शक्ति, जो बाहर से आती है, हमें पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकती; एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही प्रेरणा प्राप्त कर सकती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं। हम जन्म भर पुस्तकों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक भी हो जायँ, पर अन्त में हम देखेंगे कि हमारी आत्मा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। यह आवश्यक नहीं है कि उच्च श्रेणी के बौद्धिक विकास के साथ मनुष्य का आत्मिक विकास भी सम तुल्य हो जाय। प्रत्युत हम प्रायः यही देखते हैं कि बुद्धि का उच्च विकास आत्मा की ही वेदी पर होता है।

बुद्धि की उन्नति करने में तो हमें पुस्तकों से बहुत सहायता प्राप्त होती है, पर आत्मा के विकास में उनसे लगभग शून्य प्राय ही सहायता प्राप्त होती है। ग्रन्थों का अध्ययन करते–करते कभी–कभी हम भ्रमवश ऐसा सोचने लगते हैं कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति में इस अध्ययन से सहायता मिल रही है। पर जब हम अपना आत्म विश्लेषण करते हैं, तब पता लगता है कि ग्रन्थों से केवल हमारी बुद्धि को ही सहायता मिली है, आत्मा को नहीं। यही कारण है कि हर व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों पर अद्भुत व्याख्यान तो दे सकता है, पर जब कार्य करने का अवसर आता है, तो वह अपने को बिल्कुल निकम्मा पाता है। कारण यह है कि जो बाह्य शक्ति हमें आत्मोन्नति के पथ में आगे बढ़ाती हैं, वह हमें पुस्तकों द्वारा नहीं मिल सकती। आत्मा को स्फुरित करने के लिए ऐसी शक्ति किसी दूसरी आत्मा से ही प्राप्त होनी चाहिये।

जिस आत्मा से यह शक्ति मिलती है, उसे गुरु या आचार्य कहते हैं और जिस

आत्मा को यह शक्ति प्रदान की जाती है, वह शिष्य या चेला कहलाता है। इस शक्ति के संप्रेषण के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से यह शक्ति संचारित होती है, उसमें उस शक्ति को अपने पास से दूसरे में संप्रेषित कर सकने की क्षमता हो, और दूसरी आवश्यकता यह है कि जिसको वह शक्ति संप्रेषित की जाय, उसमें उसको ग्रहण करने की क्षमता हो। बीज सजीव हो और खेत अच्छी तरह से जुता हुआ हो। जब ये दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब धर्म की आश्चर्यजनक उन्नति होती है। 'धर्म का वक्ता अलौकिक हो और श्रोता भी वैसा ही हो।' और जब दोनों अलौकिक या असाधारण होंगे, तभी अत्युत्तम आत्मिक विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं। ऐसे ही लोग यथार्थ गुरु हैं और ऐसे ही लोग यथार्थ शिष्य। अन्य तो मानो धर्म का केवल खिलवाड़ करते रहते हैं। उनके बारे में हम कह सकते हैं कि वे मानो धर्म–क्षेत्र की केवल बाहरी परिधि पर खड़े हैं। पर उसकी भी कुछ न कुछ सार्थकता है–धर्म की सच्ची प्यास उससे जाग्रत हो सकती है; समय आने पर ही सब कुछ प्राप्त मिलता है। ज्यों ही आत्मा को धर्म की आवश्यकता होती है, त्यों ही धार्मिक शक्ति का देने वाला कोई न कोई आना ही चाहिए। 'खोज करने वाले पापी की भेंट खोज करने वाले उद्धारक से हो ही जाती है।' जब ग्रहण करने वाली आत्मा की आकर्षण–शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देने वाली शक्ति आनी ही चाहिए।

पर मार्ग में बड़े खतरे भी हैं। एक खतरा यह है कि कहीं ग्रहीता आत्मा (शिष्य) अपने क्षणिक आवेश को यथार्थ पिपासा न समझने लगे। ऐसा हमें स्वयं अपने में भी मिलेगा। हमारे जीवन में प्रायः ऐसा घटित होता है कि जिस व्यक्ति पर हमारा बहुत प्रेम है, वह अचानक मर जाता है, उसकी मृत्यु से हमें क्षण भर के लिए धक्का पहुँचता है। हम सोचते हैं कि यह संसार हाथ से निकला जा रहा है, हमें संसार से कुछ उच्चतर वस्तु चाहिए और अब हम धार्मिक होने जा रहे हैं। पर कुछ दिनों के बाद वह तरंग निकल जाती है और हम जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं। हमें अनेक बार इन आवेशों में धर्म की सच्ची पिपासा का भ्रम हो जाता है। पर जब तक इन क्षणिक आवेशों में हमें इस प्रकार का भ्रम होता रहेगा, तब तक हमारी आत्मा की वह सतत यथार्थ पिपासा जाग्रत नहीं होगी और हमें 'शक्तिदाता' (गुरु) प्राप्त न होंगे।

अतः जब हमारे मन में यह शिकायत उठे कि हमें सत्य की प्राप्ति नहीं हुई है, यद्यपि हम उसकी प्राप्ति के लिए इतने व्याकुल हैं, उस समय हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि हम आत्म–निरीक्षण करें और पता लगायें कि क्या हमें वास्तव में उस (सत्य या धर्म) की पिपासा है? अकसर तो यही दिखेगा कि हम ही उसके योग्य नहीं हैं, हमें धर्म की

आवश्यकता ही नहीं है, हममें अभी आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं है।

शक्तिदाता गुरु के लिए तो और भी अधिक कठिनाइयाँ होती हैं। बहुतेरे तो ऐसे हैं, जो स्वयं अज्ञान में डूबे रहने पर भी अपने अन्तःकरण में भरे अहंकार के कारण अपने को सर्वज्ञ समझते हैं, इतना ही नहीं, वे दूसरों का भार अपने कन्धे पर उठाना चाहते हैं और इस प्रकार 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए अपने साथ उन्हें भी गड्ढे में ले गिरते हैं। संसार में ऐसों की ही भरमार है। हर कोई गुरु होना चाहता है, हर भिखारी लक्ष मुद्रा का दान करना चाहता है! जैसे ये भिखारी हँसी के पात्र हैं, वैसे ही ये गुरु भी।

तब प्रश्न यह है कि गुरु की पहिचान हमें कैसे हो? सूर्य को दिखाने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य को देखने के लिए हम मोमबत्ती नहीं जलाते। सूर्य का उदय होते ही उसके उदय होने का ज्ञान हमें स्वभावतः ही हो जाता है। उसी प्रकार जब हमें सहायता देने के लिए किसी जगद्गुरु का आगमन होता है, तब आत्मा को अपने स्वभाव से ही ऐसा लगने लगता है कि उसे सत्य की प्राप्ति हो गयी। सत्य स्वयंसिद्ध होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सत्य स्वयंप्रकाश होता है। वह हमारी प्रकृति की अन्तस्तम गुहाओं तक को भेद देता है। और सारी सृष्टि चिल्ला उठती है, 'यही सत्य है।' महान् आचार्य ऐसे ही होते हैं। पर हमें तो इनकी अपेक्षा छोटे आचार्यों से भी सहायता पा सकते हैं। किन्तु जिनके पास से हम दीक्षा लेना चाहते हैं या जिन्हें हम गुरु बनाना चाहते हैं, उनके विषय में ठीक या उचित राय कायम कर सकने के लिए पर्याप्त अन्तःशक्ति हममें बहुधा नहीं होती, इसलिए कुछ कसौटियों की आवश्यकता है। जिस प्रकार शिष्य में कुछ लक्षणों का रहना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरु में भी कुछ लक्षण होने चाहिए।

पवित्रता, यथार्थ ज्ञान-पिपासा और धैर्य—ये लक्षण शिष्य में अवश्य हों। अपवित्र आत्मा कभी धार्मिक नहीं हो सकती। सबसे बड़ी आवश्यकता इसी पवित्रता की है। सब प्रकार की पवित्रता नितान्त आवश्यक है। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति की यथार्थ पिपासा हो। प्रश्न यही है कि चाहता कौन है? हम जो चाहते हैं, वही मिलता है, यह पुराना नियम है। जो चाहता है, वह पाता है। धर्म की चाह बड़ी कठिन बात है, जिसे हम साधारणतः जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। फिर हम यह तो सदा भूल ही जाते हैं कि व्याख्यान सुनना या पुस्तकें पढ़ना धर्म नहीं है। धर्म तो एक सतत संघर्ष है। स्वयं अपनी प्रकृति का दमन करते रहना, जब तक उस पर विजय-प्राप्ति न हो जाये, तब तक निरन्तर लड़ते रहने का नाम धर्म है। यह एक या दो

बिना कुछ वर्षों या जन्मों का प्रश्न नहीं है। इसमें तो सैकड़ों जन्म बीत जायें, तो भी हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिये। सम्भव है, हमें अपनी प्रकृति पर तुरन्त विजय मिल जाये, यह सम्भव है सैकड़ों जन्म तक हमें यह विजय प्राप्त न हो, पर हमें उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। जो शिष्य इस भावना के साथ अग्रसर होता है, उसको सफलता मिलती है।

गुरु में पहले तो हमें यह देखना चाहिए कि वह शास्त्रों के मर्म को जानता हो। सारा संसार बाइबिल, वेद, कुरान आदि-आदि धर्म-शास्त्रों को पढ़ता है, पर ये सब तो केवल शब्द, वाह्य विन्यास, वाक्य-रचना, शब्द-रचना और भाषा विज्ञान ही है, धर्म की सूखी, नीरस अस्थियाँ मात्र। गुरु चाहे किसी ग्रन्थ का काल-निर्णय कर ले, पर शब्द तो वस्तुओं का बाहरी रूप मात्र है। जो शब्द की ही उलझन में अधिक पड़े रहते हैं और अपने मन को शब्दों की शक्ति में ही दौड़ाया करते हैं, वे भाव को खो बैठते हैं। इसीलिए गुरु को धर्म शास्त्रों के मर्म को जानना आवश्यक है। शब्दों का जाल गहन अरण्य के समान है, जहाँ मनुष्य का मन भटक जाता है और बाहर निकलने का मार्ग नहीं पाता। शब्द-योजना की विभिन्न रीतियाँ, सुन्दर भाषा बोलने की विभिन्न शैलियाँ, शास्त्रों के अर्थ समझाने के अनेक रूप—ये सब विद्वानों के आनन्द-भोग की वस्तुएँ हैं, इनसे किसी को मुक्ति नहीं मिल सकती।

जो लोग इन सबका प्रयोग करते हैं, वे तो अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए ही ऐसा करते हैं, जिससे संसार उनकी स्तुति करे और यह जाने कि वे विद्वान् हैं। तुम देखोगे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये, न शब्दों की खींचातानी का कोई प्रयत्न किया, न उन्होंने यह कहा कि इस शब्द का अर्थ अमुक है और इस शब्द तथा उस शब्द के बीच भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं, उनका चरित्र अध्ययन करो तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने इस मार्ग का अवलम्बन किया हो। फिर भी इन्हीं आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी। और दूसरे लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था, एक ही शब्द को ले लिया और उस पर तीन-तीन जिल्दों की पोथी रच डाली। मेरे गुरुदेव मुझसे कहा करते थे कि तुम ऐसे लोगों को क्या कहोगे जो आम के बाग में जाने पर पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, पत्तों के रंग जाँचने, शाखाओं की मोटाई नापने तथा उनकी संख्या गिनने इत्यादि में लगे रहें, जब कि उनमें से केवल एक ही में आम खाने की बुद्धि हो। अतः पत्ते और शाखाओं की गिनती करना और टिप्पणी तैयार करना दूसरों के लिए छोड़ दो। इन सब कार्यों का महत्त्व अपने उपयुक्त स्थान में है, पर इस धार्मिक क्षेत्र में नहीं। ऐसी चेष्टा से मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकते। इन 'पत्ते गिनने वालों' में तुम्हें श्रेष्ठ धार्मिक शक्तिसम्पन्न

मनुष्य कदापि नहीं मिल सकता। मनुष्य का सर्वोपरि उद्देश्य, सर्वश्रेष्ठ पराक्रम धर्म है, किन्तु उसके लिए 'पत्ते गिनने' की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि तुम ईसाई होना चाहते हो, तो यह जानना आवश्यक है कि ईसा मसीह कहाँ पैदा हुये थे–जेरूसलेम में या बेथेलहम में; या उन्होंने 'शैलोपदेश' ठीक किस तारीख को सुनाया था; तुम्हें तो केवल उस 'शैलोपदेश' के अनुभव करने की आवश्यकता है। यह उपदेश किस समय दिया गया, इस विषय में दो हजार शब्द पढ़ने की जरूरत नहीं। वह सब तो विद्वानों के विलास के लिए है। उन्हें उसे भोगने दो 'तथास्तु' कह दो और आओ, हम आम खायें।

दूसरी आवश्यकता यह है कि गुरु निष्पाप हो। इंग्लैण्ड में मुझसे एक मित्र पूछने लगे, ''गुरु के व्यक्तित्व को हम क्यों देखें? हमें तो उनके उपदेशों को ही विचार करके ग्रहण कर लेना चाहिए?'' नहीं, ऐसा ठीक नहीं। यदि कोई मनुष्य मुझे गतिशास्त्र, रसायन शास्त्र या कोई अन्य भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है, तब तो उस शिक्षक का आचरण चाहे जैसा भी हो, वह मुझे इन विषयों की शिक्षा दे सकता है, क्योंकि इन विषयों के सिखाने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान की ही आवश्यकता है। केवल बुद्धि–बल के द्वारा ही इन विषयों की शिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि इन विषयों में, आत्मा की जरा सी भी उन्नति हुए बिना मनुष्य में बुद्धि की विराट् शक्ति का उत्पन्न होना सम्भव है। पर आध्यात्मिक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो आदि से अन्त तक अपवित्र आत्मा में धर्म की ज्योति का होना असम्भव है। ऐसी आत्मा सिखलायेगी ही क्या? वह तो कुछ जानती ही नहीं। पवित्रता ही आध्यात्मिक सत्य है। 'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' इस एक वाक्य में सब धर्मों का निचोड़ है। यदि तुमने इतना ही जान लिया तो भूतकाल में जो कुछ इस विषय में कहा गया है और भविष्य काल में जो कुछ कहा जा सकता है, उन सबका ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो गया। तुम्हें और किसी ओर दृष्टिपात करने की जरूरत नहीं, क्योंकि तुम्हें इस एक वाक्य में ही सारी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गयी। यदि संसार के सभी धर्मशास्त्र नष्ट हो जायें, तो अकेला यह वाक्य ही संसार का उद्धार कर सकेगा। आत्मा के पवित्र हुए बिना, ईश्वर का दर्शन, इस जगत् के परे की झाँकी कभी नहीं मिल सकती। इसीलिए आध्यात्मिकता का उपदेश करने वाले गुरु में पवित्रता का होना अनिवार्य है; पहले हमें यह देखना चाहिए कि वे (गुरु) 'क्या हैं', और तदुपरान्त वे 'क्या कहते हैं।' बौद्धिक विषयों के आचार्यों के पक्ष में यह बात आवश्यक नहीं है, वहाँ तो जो वे हैं, उसकी अपेक्षा जो वे कहते हैं, उसी को हम महत्त्व देते हैं। पर धार्मिक गुरु के विषय में हमें पहले और सर्वोपरि यह देख लेना चाहिए कि वे क्या हैं, और तभी उनके उपदेश का मूल्य है; क्योंकि वह तो संप्रेषण करने वाला होता है। यदि स्वयं गुरु में यह

आध्यात्मिक शक्ति न हो, तो वह शिष्य में किसका संचार करेगा? जैसा, यदि गर्मी पहुँचाने वाला पदार्थ स्वयं गर्म हो, तभी वह गर्मी के स्पंदन संप्रेषित कर सकेगा, अन्यथा नहीं। ठीक यही बात गुरु के उन मानस स्पंदनों के सम्बन्ध में सत्य है, जिन्हें वह शिष्य में संचरित करता है। प्रश्न संवाहन का है, केवल हमारी बौद्धिक क्षमताओं को उत्तेजित करने की बात नहीं है। कोई यथार्थ तथा प्रत्यक्ष शक्ति गुरु से निकलकर जाती है। और शिष्य के हृदय में पल्लवित होने लगती है। इसी कारण गुरु का सच्चा होना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

तीसरी बात है उद्देश्य। हमें देखना चाहिए कि गुरु नाम, यश अथवा अन्य किसी ऐसे ही उद्देश्य से तो उपदेश नहीं देते, वरन् केवल प्रेम के निमित्त शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर उपदेश देते हैं। क्योंकि केवल प्रेम के ही माध्यम द्वारा गुरु के शिष्य में आध्यात्मिक शक्तियों का संचार किया जा सकता है। अन्य किसी माध्यम द्वारा इन शक्तियों का संचार नहीं हो सकता। अर्थ–प्राप्ति या कीर्ति–लाभ आदि किसी अन्य उद्देश्य से प्रेरित होने पर संप्रेषण का माध्यम तत्काल नष्ट हो जाता है। अतः यह सब प्रेम द्वारा ही होना चाहिए। जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वही गुरु हो सकता है। जब तुमको गुरु में ये आवश्यक बातें मिल जायें, तो तुम निरापद हो; तुम्हें कोई डर नहीं। और यदि ये बातें गुरु में न हों, तो उनको स्वीकार करना बुद्धिमानी नहीं है। कारण, यदि वे सद्भाव का संचार नहीं कर सकते, तो कभी–कभी उनसे दुर्भाव के ही संचार होने का डर रहता है। इस बात के प्रति सजग रहना चाहिए। अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि हम किसी भी ऐरे–गैरे से उपदेश नहीं ले सकते।

नदी–नालों और पत्थरों के प्रवचन करने की बात काव्यालंकार के रूप में तो ठीक हो सकती है, पर जिसके भीतर सत्य नहीं है, वह सत्य का अणु मात्र भी उपदेश नहीं कर सकता। नदी–नाले किसे प्रवचन देते हैं उसी मानव आत्मा को, जिसका जीवन–कमल पहले ही मुकुलित हो चुका है? जब हृदय खुल जाता है, तब उसे नालों, पत्थरों से भी उपदेश प्राप्त हो सकता है, इन सबसे धार्मिक शिक्षा मिल सकती है। पर जो हृदय खुला नहीं है, उसे तो नाले और पत्थर के अतिरिक्त और कुछ दिखेगा ही नहीं। अन्धा आदमी अजायबघर भले ही चला जाय, पर उसके हाथ केवल आना और जाना ही लगेगा। यदि उसे कुछ देखना है, तो पहले उसकी आँखें खुलनी चाहिए। धर्म की आँखों को खोलने वाला गुरु होता है। अतः गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध पूर्वज और वंशज का होता है। गुरु धार्मिक पूर्वज और शिष्य उसका धार्मिक वंशज होता है। स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की बातें चाहें जितनी अच्छी लगें, पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई धर्म नहीं रह सकता। यह उल्लेखनीय बात है कि जहाँ गुरु और शिष्य में ऐसे सम्बन्ध का अस्तित्व

संबंध भी है, वहीं महान् आध्यात्मिक आत्माओं का विकास होता है; पर जहाँ उसे बहिष्कृत कर दिया गया है, वहाँ धर्म केवल एक दिल-बहलाव की वस्तु बन जाता है। उन सब राष्ट्रों और धर्मसंघों में, जहाँ गुरु और शिष्य में यह सम्बन्ध विद्यमान नहीं है, आध्यात्मिकता प्रायः नहीं के बराबर रह जाती है। उस भावना के बिना आध्यात्मिकता कदापि नहीं आ सकती। वहाँ न तो कोई देने वाला-संचार करने वाला ही है और न ग्रहण करने वाला, क्योंकि वे सब स्वाधीन हैं। वे सीखेंगे किससे? यदि वे सीखने आते हैं, तो असल में विद्या खरीदने आते हैं। हमें एक डॉलर का धर्म दो, क्या हम उसके लिए एक डॉलर खर्च नहीं कर सकते? धर्म की प्राप्ति इस प्रकार नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वतः ही उसे प्राप्त हो जाता है। किन्तु पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में-हिमालय, आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा के मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु को प्राप्त करो, बालकवत् उनकी सेवा करो, उनका प्रभाव ग्रहण करने के लिए अपना हृदय खोल दो, उनमें परमात्मा के व्यक्त रूप का दर्शन करो। गुरु को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति समझकर उनमें हमें अपना ध्यान केन्द्रीभूत कर देना चाहिए, और ज्यों-ज्यों उनमें हमारी यह ध्यान-शक्ति एकाग्र होगी, त्यों-त्यों गुरु के मानव रूप का चित्र विलीन हो जायेगा, मानव शरीर का लोप हो जयेगा और यथार्थ ईश्वर ही वहाँ शेष रह जायेगा। सत्य की ओर जो इस श्रद्धा और प्रेम से अग्रसर होते हैं, उनके प्रति सत्य के भगवान् परम अद्भुत वचन कहते हैं।' अपने पैरों से जूते अलग कर दो, क्योंकि जिस जगह तुम खड़े हो वह स्थान पवित्र है। जिस स्थान में उस (भगवान्) का नाम लिया जाता है, वह स्थान पवित्र है, तब जो मनुष्य उसका नाम लेता है, वह कितना अधिक पवित्र होगा। और जिस मनुष्य से आध्यात्मिक सत्यों की प्राप्ति होती है, उसके निकट हमें कितनी श्रद्धा और भक्ति के साथ पहुँचना उचित है। इसी भाव से हमें शिक्षा ग्रहण करनी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे गुरु इस संसार में कम मिलते हैं, पर ऐसा भी नहीं है कि जगत् *उनसे बिल्कुल शून्य हो। जिस क्षण यह संसार ऐसे गुरुओं से रहित हो जायेगा, उसी क्षण इसका अन्त हो जायेगा, यह घोर नरक बनकर झड़ जायेगा। ये गुरु ही मानव जीवन के सुन्दर तथा अनुपम पुष्प हैं, जो संसार को चला रहे हैं। जीवन के इन हृदयों के द्वारा व्यक्त शक्ति ही समाज की मर्यादाओं को सुरक्षित रखती है।*

ज्ञानी

जिसे मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान हो जाता है वह सर्वरूप बनता है। ऐसी विश्व रूप महान् आत्मा को दुनियाँ भर में सज्जनों द्वारा होने वाले समस्त सत्कर्म और दुष्टों की ओर से किये जाने वाले समस्त असत् एवं दुष्कर्म, सब मेरे ही है ऐसा जान पड़ना स्वाभाविक है। सारी दुनिया का कोई चोरी चोरी करे अथवा हत्यारा हत्या करे। शास्त्रीय भाषा में वह सब इस महात्मा द्वारा किये माने जावेंगे। कितनी ही चोरियाँ या हत्यायें महात्मा के हाथ से होती हैं फिर भी उनसे उसका बाल भी बाँका नहीं होता। यह भी उसी ज्ञान की महिमा है जिसके अन्तर्गत सारे संसार के दुष्कर्म इस महापुरुष के सिर मढ़े गये थे। इसलिए स्थित -प्रज्ञ की इस शास्त्रीय भाषा को व्यावहारिक भाषा समझना उचित न होगा।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Agra 19/21-22 SEPTEMBER 2021

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तो का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

साधु पृष्टं भवद्भिश्च लोकानां हितकारकैः
भवन्तश्च तथा धन्याः पवित्रा कुलभूषणाः

सूतजी बोले ! लोकों के हित करने को आपने अच्छा प्रश्न किया आप धन्य हो, पवित्र हो, कुल के भूषण हो।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य प्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा